जीवन-ज्योति

*

लेखक
प्रो० निर्मलचन्द्र

*

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
९६, दरियागज, दिल्ली

प्रस्तावना

वर्त्तमान आणविक युग में सर्वत्र तथा अपूर्वतर उग्रता से अनुभव कया जा रहा है कि वैज्ञानिक तथा शिल्पिक प्रगति मानव को शान्त ाथा सुखी करने में असफल रही है। न केवल मानव-जीवन आनन्द-मय ाही हो पाया, प्रत्युत् वह अपनी नवोपार्ज्जित शक्ति से सकटापन्न भी हो ला है; निराशा, भय, सन्देह, संघर्ष, विद्वेष, घृणा तथा अशान्ति उत्तरोत्तर बढते प्रतीत होते हैं। और इसीलिए मनुष्य जीवनमुक्ति के स्थान में स्वय जीवन से ही मुक्ति चाहता है।

इसका कारण यही है कि ससार में जहाँ विद्या तथा कला की कोई त्रुटि दिखाई नही देती, वहाँ जीवनालोक का अभाव है। मानव इतना भी स्पष्टत. नही जानता कि वह स्वय क्या या कौन है, यह जगत क्या तथा क्यो है, और मानव के साथ इसका सबन्ध क्या है; जीने का अर्थ तथा प्रयोजन क्या है। जीवन कला से अनभिज्ञ रहकर वह अन्धकार में जीवन के दिन काट रहा है।

ससार में अनेक मत फैल रहे हैं जो परलोक या मृत्युत्तर काल में सुख शान्ति देने की प्रतिज्ञा तो करते हैं, किन्तु वे इसी पृथ्वी पर, जिसमे कि हमने जन्म लिया है, स्वर्ग निर्माण द्वारा जीवन-मुक्त होने की शिक्षा नही देते। उनका बल तो मानव सस्कृति के स्थान में साम्प्रदायिक मत प्रचार पर ही है।

अत' विश्व ससार के इस शोचनीय अभाव को देखते हुए मानव-जाति को जीवन-ज्योति का उपहार भेंट करते हुए आशा करते हैं कि यह मानव जगत में नवजागरण का हेतु होकर इसी लोक में जीवन-आनन्द का चिर-नवीन वसन्त लाने की दिशा में कुछ कर सकेगी। तथास्तु।।

—निर्मलचन्द्र

बीज मन्त्र

ओ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥

ईशावास्योपनिषद् ।

वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर (भी) पूर्ण ही बच रहता है ॥

That is full. This is full The full comes out of the full Taking the full from the full, still the full remains.

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

चतुर्थ भाग

पंचम भाग

प्रथम भाग

: १ :

जीवन गति

पहले बहुधा यही माना जाता था कि सर्व सत्ता का वास्तविक रूप स्थिरता या निश्चलता है। सत् वही है जो अचल या गति शून्य है। जो बदलता है, वह असत् तथा प्रतीति-मात्र है, वास्तव नही। परम् सत्ता वस्तुत स्थितिशील है, इसमे गति अथवा परिवर्तन की सम्भावना ही नही है।

किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणा ने सिद्ध कर दिया है कि *"यत् किंच जगत्या जगत्"* गतिशील है। खण्ड तथा ब्रह्माड, परमाणु तथा विश्व ससार, निर्जीव तथा सजीव, जड तथा चेतन मे गति ही गति है, परिवर्तन ही परिवर्तन है। पदार्थ स्थिर प्रतीत होते है। किन्तु वास्तव मे समस्त जगत् ही सचल तथा परिवर्तनशील है।

यद्यपि गति तथा परिवर्तन व्यापक तथ्य है तथापि निर्जीव पदार्थो तथा सजीव प्राणियो मे एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ पूर्वोक्त उद्देश्य विहीन हो सकते है, वहा उत्तरोक्त मे सदा कोई न कोई उद्देश्य पाया जाता है। इसीलिए जीवन को एक यात्रा की उपमा दी जाती है। और विशेपत मानव स्तर

पर तो उद्देश्य सज्ञान रूप धारण कर लेता है, केवल मानव को ही अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे कहाँ ? और किधर ? का ख्याल आया करता है। और वही एकमात्र प्राणी है जो सज्ञान उद्देश्य अथवा अर्थ के स्तर पर जीने की योग्यता रखता है।

उद्देश्य विहीन जीवन व्यर्थ होता है और वह पाशविक हो तो हो, मानवीय कभी नही कहला सकता। प्राचीनकाल से यह प्रार्थना मानव-हृदय मे उमडती आई है :—

"असतोमा सद्गमय, तमसोमा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय"। (हमे असत् से सत्, अन्धकार से ज्योति और मृत्यु से अमृत्व की ओर ले जाओ)।

यह सहज, स्वाभाविक, व्यापक प्रार्थना कहाँ से आई ? क्या यह किसी बाहरी आदेश से उठी है, या मानव स्वभाव से ही उद्भूत हुई है ?

तत्वदर्शी महानुभावो ने यह निर्णय किया है कि प्रत्येक जीवित वस्तु अपने स्वभाव की ओर ही लौटा करती है। जीवन-प्रार्थना का बीज उस हृदय मे ही निहित होता है, जिससे वह उठा करती है। वृक्ष जिस बीज से उत्पन्न होता है, अपने उत्कर्ष मे उसकी ओर ही धावित होता है। शिशु की उमंगें परिपक्व मानवता की ओर उमड़ा करती है। प्रत्येक जीवित वस्तु अपने स्वरूप को ही फिर उच्चतर रूप मे उपलब्ध करना चाहती है। इसी का नाम उत्कर्ष है जो कि भीतरी स्वभाव का फल है।

मानव क्रियाओं मे भी यही नियम काम आता है। जब हम किसी यन्त्र या मशीन का निर्माण करते है तो उसकी

रचना अथवा क्रिया का रुख भी उसी उद्देश्य की ओर हुआ करता है जिसके लिए उसका जन्म हुआ है। मानसिक स्तर पर भी यही नियम लागू होता है। मन भी अपने से बाहर निकल कर प्रकृति के अध्ययन मे जब शृ खला, व्यवस्था, नियम, उद्देश्य और सौदर्य की खोज करता है तो वस्तुतः अपने को ही प्रकृति मे उसी प्रकार से पाना चाहता है जैसे आँख दर्पण मे। वास्तव मे प्रकृति क्या है, आत्मदर्शन के लिए एक विराट दर्पण ही तो है।

जीवन एक क्रमागत गति है—अपने रूप से अपने ही स्वरूप, अपनी ही वास्तविकता से अपनी शक्यता की ओर, अपने ही नए से नए और उत्तरोत्तर विकास तथा नूतन प्रकाश के लिए। यह आप ही आदिम है और आप ही अन्तिम। इसका स्वभाव लगातार आगे बढना या ऊपर उठना है। पीछे लौट कर अपने मे ही समा जाना ठीक नही।

२ .

एक महत्तम वृत्त

आपातत इस ससार मे आकाश ही सबसे बडा वृत दिखाई देता है। सारा जगत् उसके अन्तर्गत है। किन्तु आकाश को जानने वाली सत्ता तो उससे भी बड़ी है। क्योकि ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता के ज्ञान मे ही समा जाता है। दृष्टि के भीतर

ही दृश्य होता है। मानवात्मा ही आकाश की असीमता को जानती है। आत्मा चिदाकाश है जो कि भूताकाश से कही बडा है। विश्व जगत् भूताकाश मे है और भूताकाश चित्-आकाश के अन्तर्भूत है।

ज्ञाता से परे कुछ नही, कुछ हो नहीं सकता।

मनुष्य जब एक आत्मज्ञान विशिष्ट जन्तु है अर्थात् अपने आपको जानता है, तब उसका आदर्श भी असीम पूर्णता है। वह अपनी या अपने गुणो की सीमा देख कर लज्जित होता हुआ इसे सहन नही कर सकता। उसे अपनी मृत्यु का ख्याल क्यो डराता है? केवल इसलिए कि यह उसकी सीमा की सत्ता दिखलाती है। उसे अपना अज्ञान क्यो नही भाता? इसलिए कि यह उसके ज्ञान की सीमा जतलाता है। इसी प्रकार उसे अपनी दुर्बलता और अयोग्यता क्यो पसन्द नही? इसलिए कि यह उसके बल तथा क्षमता की सीमा बतलाते हैं। अन्य किसी प्राणी को अपनी सीमाओ का ज्ञान ही नही हो सकता। इसलिए मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जो अपनी अपूर्णता को जानता हुआ उसमे सन्तुष्ट नही रह सकता। इस से स्पष्ट पता लगता है कि आत्मा (अपना आप) जिसे केवल मनुष्य ही जान सकता है—पूर्ण, असीम, अनन्त तथा अपरिछन्न है।

और यही कारण है कि इस पृथ्वी पर मनुष्य ही एक-मात्र अनन्त प्रगतिशील जन्तु है। इसकी उन्नति की कोई निर्धारित सीमा नही हो सकती। यह बाधा विघ्नो को भी अपने साधनो मे बदलता हुआ अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त

सौन्दर्य, अनन्त प्रेम, अनन्त भलाई तथा पवित्रता की ओर बढता चला जा रहा है। वास्तव मे वह किसी अन्य वस्तु तथा सत्ता की तलाश नही कर रहा। वह तो अपने वर्त्तमान रूप मे अपने ही स्वरूप (आत्मा) की ओर धावित हो रहा है, बाहरी दबाव के अधीन नही। बल्कि अन्त प्रेरणा से, निज स्वभाव के वश मे ऐसा करने को बाध्य है।

और यही तो व्यापक मानव धर्म है जो मानव जाति के लिए एक ही है। मत (अनुष्ठान, क्रियाएँ, आचार, सिद्धान्त) अनेक है। मत मानव जाति के भीतर नाना प्रकार के भेद तथा विच्छेद उत्पन्न करते है किन्तु मानव धर्म हमे मिलाता एवं अनन्त, असीम, अद्वैत तथा अविनश्वर मूल्य-जगत् (सत्य, शिव, सुन्दर) की ओर खीचता हुआ जीवन को आनन्दमय बनाता है। धर्ममय जीवन द्वारा ही इस पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण होता है। क्योकि *"यो वै भूमा तत् सुखम् नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्"*। अनन्त मे ही सुख है, अल्प मे नही। अनन्त ही सुखप्रद है। तद्विपरीत अधर्म्म (अनन्त की ओर जीवन प्रगति का रुद्ध हो जाना) दुख उत्पन्न करता हुआ इस पार्थिव जीवन को ही नरक बना देता है। स्वर्ग तथा नरक स्थान विशेष नही हैं। यह तो हमारी मानसिक दशाओ के ही वास्तव भेद हैं जो धर्म एव अधर्म के अनिवार्य भावी फल है।

हमारा स्वभाव ही हमारा स्वधर्म है जिससे हम भाग नही सकते। हमारे कर्म (मानसिक, वाचक, कायक) अपना फल आप लाते हैं। और जिस प्रकार अपने आपसे भागना सम्भव नही है, इसी प्रकार अपने कर्मों से भागना भी असम्भव

है। *"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"* धर्म-जीवन द्वारा हम स्वयं स्वर्ग बन कर अपने चारो ओर स्वर्ग का प्रसार करते है और इसके विपरीत अधर्म हमे ही नरक बना कर हमारे चतुर्दिक नरक फैलाता है। धर्म तथा सुख, मधु तथा मिष्टता के सम्मान अविभाज्य है—और अधर्म तथा दुःख नीम तथा कटुता की भाँति अवियोज्य है। धर्म हमे अपना मित्र बनाता है और अधर्म द्वारा हम आप ही अपने शत्रु हो जाते है। वास्तव मे धर्म ही स्वरक्षा और अधर्म ही आत्म-हत्या है।

: २ :

सुख तथा दुःख का मार्मिक रहस्य

हमें सुख दुःख का अनुभव होता है क्योंकि हम जीवित है। निर्जीव के लिए सुख, दुःख कहां ? प्रत्येक प्राणी को सुख दुःख का मजा चखना पडता है। किन्तु जब मनुष्य सुख दुःख के मर्म को जान लेता है, तब उसके लिए आनन्द का द्वार खुल जाता है। तब वह सुख और दुःख दोनों मे ही आनन्द का उपभोग करने योग्य हो जाता है।

सुख तथा दुःख सापेक्ष द्वन्द है, किन्तु आनन्द निर्द्वन्द तत्त्व है। जब हमारा कर्म जीवन गति के अनुकूल है अर्थात् जीवन वृद्धि का हेतु होता है, तब सुख का अनुभव होता है। किन्तु

जब हम जीवन वृद्धि के स्थान मे सुख को सुख के लिए ही ढूढने लगते हैं और जीवन के उद्देश्य या नियम की अवहेलना करते है, तब दुख होता है और जब हम जीवन आदर्श की पूर्ति के लिए दुख तथा कष्ट को भी वरण कर लेते हैं, तब वह दुख भी आनन्द की गहराई का माप हो जाता है।

तद्विपरीत जब हम जीवन के सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते है, तो दु:ख ही हमे सँभलने के लिए बाध्य कर देता है। जिस प्रकार नदी के तट ही उसे सागर की ओर बह जाने के लिए बाध्य कर देते है, इसी प्रकार दुख भी जीवन धारा को अपने लक्ष्य की ओर बहने के लिए बाध्य कर देता है। अतः सुख तथा दुख दोनो ही जीवन की पूर्ति के साधन है। सुख तो हमे सन्मार्ग पर चलने का बढावा देता है और दुख हमे, पथभ्रष्ट को, बलपूर्वक बचाना चाहता है।

किन्तु सुख भी बलहीन लोगो के लिए एक सहारा है। सुख-प्रियता किसी को बलवान् नही बनाती बल्कि कमज़ोर ही रखती है। सबल आत्माएँ सुख दुख को जीवन-पथ पर धूप छाह के समान जानती हुई अपने लक्ष्य की ओर बढी चली जाती हैं।

दुख मे से गुजरे बिना न तो जीवन मे बल, गम्भीरता या महानता आती है और न ही निर्पेक्ष आनन्द प्राप्त होता है। जिन लोगो मे आत्मबल जागा है, वे न तो सुख के पीछे दौडते हैं और न ही दुख से विचलित होते हैं, वे दोनो अवस्थाओ मे सम रहते हैं। दुर्बल आत्मा के लिए ही सुख-दुख, हर्ष-शोक तथा रागद्वेष कष्ट के हेतु हुआ करते है।

सुख-दुःख दोनो जीवन में केवल शैक्षणिक मूल्य रखते हैं। जीवन-लक्ष इनसे ऊपर और परे है। सवेदनात्मक जीवन ही इन से चालित है, बौद्धिक जीवन कभी नही। वह तो इन दोनों से अप्रभावित रह कर जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ करता है।

जीवन का धर्म है लगातार आगे की ओर बढते जाना या ऊपर उठना। जीवन धारा मे बाधा दुःख को जन्म देती है और दुःख हमे जगाकर उस बाधा को दूर करने के लिए बाध्य कर देता है। जीवन अपने स्वरूप मे असीम है, यह तो किसी सीमा के अन्दर सदा के लिए बन्द नही रह सकता और उस सीमा को तोडने के लिए ही दुःख का आविर्भाव होता है। दुःख भी हमारा कडवा मित्र है जो हमे पूर्णता तथा सफलता की ओर फिर से बढने के लिए बाध्य कर देता है।

८

जीवन के तीन अंग

सूर्यालोक मे जो कि समस्त पार्थिव जीवन का मूल कारण तथा उत्स है, तीन गुण एक साथ पाए जाते हैं—(१) प्रकाश, सूर्य की किरण जहाँ पर भी पडती है, उजियारा करती है, पदार्थों को दिखलाती है (२) सौन्दर्य, पदार्थों को शोभा देता है (३) और शक्ति, आलोक की किरण जिस वस्तु पर पडती

है, उस पर भौतिक या रासायनिक प्रभाव डालती है। इसी प्रकार मानव चेतना मे भी तीन अवियोज्य गुण पाए जाते है—

(१) ज्ञान, प्रत्येक मानसिक क्रिया मे ज़ानना पाया जाता है। जानना ही हर एक वस्तु, घटना तथा सत्ता को सिद्ध करता है। जैसे कोई भी रग आलोक के बिना सिद्ध नही होता, इसी प्रकार ज्ञान के बिना कोई भी सत्ता सिद्ध नही हो सकती। यहा तक कि अज्ञान, अन्धकार तथा अभाव को भी ज्ञान ही सिद्ध करता है। ज्ञान ही *"ज्योतिषां ज्योति"* है। इससे परे कोई ज्योति नही है। सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत तथा अग्नि की जड ज्योतियाँ भी ज्ञान आलोक द्वारा सिद्ध होती है। ज्ञान की चमक मे ही समस्त अनुभव सिद्ध होता है। ज्ञान तथा सत्ता को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता, ज्ञान ही सत्ता है और सत्ता ही ज्ञान है। ज्ञान स्वय आत्मा (अपना आप) है। आत्मा का कोई एक गुण नही है। नि.सन्देह ज्ञान को ही विश्वास कहा जाता है।

(२) भाव, जानने के साथ कोई न कोई भाव भी अवश्य विद्यमान हुआ करता है। भाव के बिना किसी पदार्थ का ज्ञान ही नही हो सकता। जानने के साथ कोई न कोई भाव यथा हर्ष, शोक, अभिरुचि या ग्लानि, आश्चर्य, प्रेम, द्वेष, आसक्ति, अनुराग और क्रोध अवश्य मौजूद होता है। जानने के लिए भाव का होना आवश्यक है, भाव हीन जीना या जानना असम्भव है। भाव के बिना ध्यान और ध्यान के बिना ज्ञान सम्भव ही नही है।

(३) इच्छा, जिस प्रकार कोई भी क्रिया शक्ति के बिना

सिद्ध नही हो सकती, इसी प्रकार इच्छा के विना कोई भी मानसिक क्रिया सम्भव नही है। इच्छा ही मानसिक जीवन की चालिका शक्ति है। इच्छा विना किसी जीवन की सम्भावना नहीं है और जव ज्ञान हमें जीवन की असीम पूर्णता की ओर ले जाता है तो उसे ही ज्ञान योग कहा जाता है। और जब हमारे भाव हमे जीवन की पूर्णता की ओर ले जाते है तव उसे भक्ति योग का नाम दिया जाता है। और जव हमारी इच्छा शक्ति हमे जीवन आदर्श की ओर ले जाती है तव इसे कर्म योग कहते है। यही त्रिमार्ग है।

किन्तु यह तीनो मार्ग एक दूसरे से पृथक रह कर अपूर्ण ही रहते है। इनमे कोई एक मार्ग जीवन की पूर्णता को छूता ही है। वह अकेला जीवन को पूर्णता या सफलता का परमानन्द नही दे सकता।

केवल ज्ञान नीरस भोजन के समान है, शुष्क ज्ञान हृदय को एक कण्टक वना देता है जो चुभता और चुभाता है। केवल भाव मे अन्धापन पाया जाता है। यह यथार्थ सच्चाई या भलाई को जानता ही नही। इसी प्रकार निरे कर्म मे सच्चाई तथा शान्ति का अभाव होता है। यह तीनों एक दूसरे से अलग रह कर ससार मे व्यर्थ मतभेद उत्पन्न करते हुए जीवन को पूर्णता तथा सफलता के परमानन्द से दूर रखते हैं। वास्तव मे यह तीनो अङ्ग ही एक साथ रह कर जीवन को सर्वांगीण पूर्णता मे सफल और सार्थक बनाते हैं। इन तीनों अङ्गों का सामंजस्य ही जीवन को आनन्दमय तथा सफल बनाता है और तभी यथार्थ आत्मलाभ हो कर शाश्वत

शान्ति तथा जीवन मुक्ति की प्राप्ति होती है, अन्यथा कदाचित् नही।

: ५ :

पूर्ण से पूर्ण की ओर

हम देख चुके हैं कि मनुष्य के भीतर असीम पूर्णता की सहज तथा जन्मजात अभिलाषा पायी जाती है। वह अत्यन्त क्षुद्र होकर भी एक अनन्त प्रगतिशील जन्तु है। वह अपनी सीमाओ को बराबर तोडता चला जा रहा है। और अपने मे किसी सीमा को स्वीकार नही करता। उसके भीतर अनन्त ज्ञान, अनन्त जीवन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द की अनिर्व्वापनीय क्षुधा विद्यमान है। क्यो ?

नि.सन्देह उसमे असीम पूर्णता का बीज मौजूद है, नहीं तो वह अपने विकास की किसी भी सीमा पर ठहर गया होता। बड़े से बडे विघ्न और बाधाएँ भी उसे दबाना तो कहाँ, उस की ऊर्द्धमुखी आकाक्षा को और अधिक चमकाती है। आपाततः वह एक क्षुद्रतम् जीव दीखता हुआ भी अनन्त महानता की ओर बढा चला जाता है। विश्व का एक अत्यन्त तुच्छ अश होता हुआ भी, वह प्रकृति पर विजय पाने की ठाने हुए है। वह एक ऐसा विस्मयकर विन्दु है जो समस्त विश्व को अपने अन्दर ग्रास करना चाहता है। इससे अनुमान होता है कि वह

रूप मे ही क्षुद्र तथा अल्प है, स्वरूपत वह स्वयं पूर्ण है। नन्हा शिशु ऊपर से दुर्बल, असहाय, दयनीय प्रतीत होता है किन्तु उसके रोम रोम और नस नस मे पूर्ण मानव होने की अदम्य आकाक्षा कूट कूट कर भरी होती है। क्यो ? इसलिए कि वह अपने रूप, आकार मे छोटा होकर भी अपने स्वरूप मे बहुत बडा है, इतना बडा कि उसकी महानता का अनुमान लगाना कठिन है। वट का नव-जात पौदा बाहर से कितना छोटा होता है, किन्तु उसकी रग रग मे एक प्रकाण्ड वृक्ष होने की तड़प नृत्य कर रही है।

इसी प्रकार असीम तथा सर्वांगीण महानता के लिए उसकी अदम्य उमगे बतलाती है कि वह केवल रूप मे ही अल्प तथा परिमित है परन्तु अपने वास्तव स्वरूप मे किसी अनुमानीय तथा बोधगम्य बडाई या ऊचाई से भी बडा और ऊचा है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह अपनी भीतरी आभ्यन्तरिक सत्ता मे पूर्ण, महान् तथा अनन्त ही है। वह एक क्षुद्र जन्तु दीख पडता है किन्तु वस्तुत' अप्रमेय रूप मे बृहत (ब्रह्म) है क्योकि वह ब्रह्मत्व लाभ करने के लिए व्याकुल हो रहा है। इसीलिए तो श्रुति प्राचीन काल से ही घोषणा करती चली आई है—'*अयमात्मा ब्रह्म*'। यही आत्मा ब्रह्म है।

मनुष्य का यह बडे से बडा आविष्कार है जो वह अब तक कर सका है। इस आविष्कार के सामने तमाम वैज्ञानिक आविष्कार जो अब तक किये गये है या किये जायगे, तुच्छ है।

"*पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते*"—पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती

है। एक ध्रुव तथा अटल सत्य है जिसकी स्वीकृति मनुष्य को वस्तुत स्वपद पर आरूढ कर सकती है।

. ६ :

जीवनालोक

मानव जीवन के भीतर ही एक आलोक विद्यमान् है जो अन्य सभी आलोको को आलोकित करता है। यह आश्चर्य पूर्ण आलोक स्वय देखा नही जाता। किन्तु सब कुछ दिखाता है। जीवन-जगत् मे इस अत्यन्त विस्मयकर आलोक के बिना अन्य सभी प्रकार के आलोक अन्धकारमय है।

यह आलोक ज्ञान है। भाव तथा इच्छा इसी आन्तरिक आलोक के विविध रूप हैं। अज्ञान से बढ कर कोई अन्धकार या अन्धता नही है।

इस मानवीय आलोक की खोज ही जिज्ञासा है। जिसके बिना मनुष्य मृत समान ही होता है। इस के बिना जीवन व्यर्थ है।

इस आलोक की उपलब्धि का साधन आत्म (ब्रह्म)-जिज्ञासा है। आत्म ज्ञान ही सब मानवीय समस्याओ की चाबी है। यही अपरा विद्या है जो अन्य विद्याओ को सफल तथा सार्थक बनाती है। इसलिए मानव हृदय से यह ध्वनि उठती चली आई है—*'आत्माना विद्धि:'* (अपने आप को जानो)। जो

अपने को नही जानता, वह सब कुछ जानता हुआ भी कुछ नहीं जानता। आत्म ज्ञान के बिना न तो जगत् का यथार्थ ज्ञान होता है और न जीवन प्रहेलिका ही बूझी जाती है। किसी भी मानवीय समस्या का सम्यक् समाधान नही हो पाता।

आज विज्ञान अपनी अपूर्व उन्नति से ससार को विस्मित कर रहा है, किन्तु यह किसी भी मानवीय समस्या का सन्तोष-जनक समाधान करने मे असफल दिखाई देता है। मनुष्य ने विज्ञान द्वारा जो अपूर्व तथा विस्मित कर देने वाली शक्ति प्राप्त की है, वह इसके सदुपयोग का आलोक न पाकर इसके द्वारा आत्महत्या करने की ओर क्रमागत अग्रसर हो रहा है। और सब कुछ जानकर भी वह जब तक इन शक्तियो के जानने तथा व्यवहार मे लाने वाले को नही जानता, तब तक नव-विकसित शक्तिया ही उसका ध्वस करती हुई दिखाई देती है। जिसके लिए इन शक्तियो का प्रयोग करना है, जब तक उसके स्वभाव का सम्यक् ज्ञान न होगा, तब तक तथाकथित मानवीय सभ्यता तथा सस्कृति श्रेयस्कार नही हो सकेगी।

इसलिए आधुनिक काल की सर्वोपरि आवश्यकता यही है, कि हम अन्य विद्याओ के उपार्जन के साथ साथ बल्कि इससे पहले आत्म ज्ञान लाभ करे।

द्वितीय भाग

मैं क्या या कौन हूँ ?

१. अपना स्वरूप
   (क) सत्
   (ख) चित्
   (ग) आनद

२. आत्मा के धर्म
   (क) अनन्त
   (ख) अद्वैत
   (ग) निर्गुण
   (घ) निराकर तथा निर्विकार

मैं क्या या कौन हूँ ?

हमारा अनुभव मुख्यत· दो पक्ष रखता है—द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय, प्रमाता और प्रमेय। द्रष्टा, ज्ञाता या प्रमाता हमे अपना प्रतीत होता है और दृश्य को हम ससार या स्वप्न का नाम दिया करते हैं। किन्तु हमारी गवेषणा में वाह्य दृश्य से आरम्भ हो कर "यह क्या, कैसे तथा क्यो" का प्रश्न उठा करता है और वैज्ञानिक लोग प्राकृतिक नियमों की खोज लगाते हुए भौतिक घटनाओ की व्याख्या तथा उनका नियन्त्रण करने मे व्यस्त हो जाते हैं। क्या? तथा कैसे के प्रश्नो मे तो उनकी अभिरुचि है, किन्तु क्यो ? के प्रश्न से वे कोई सरोकार नही रखते। उनका सम्बन्ध केवल अनुभव के व्यवहारिक पहलू से ही होता है। हा, दार्शनिक लोगो की दृष्टि "क्या तथा क्यो" के प्रश्नो पर रहती है। किन्तु अब तक न तो वैज्ञानिक कारण और कार्य की विश्वव्यापी शृंखला में आदि अन्त का पता लगा सके है और न ही दार्शनिक क्यों ? के रहस्य तक पहुचने मे समर्थ हुए हैं। उनमे से किसी को भी "क्या तथा क्यो" का मौलिक तथा अन्तिम भेद ज्ञात नही हो सका और न कभी ज्ञात ही होगा। क्योकि उनकी टटोल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा बौद्धिक ही है। उनका ज्ञान परोक्ष ही

होता है, अपरोक्ष कभी नही, वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान से परे जा ही नही सकते। किन्तु क्या इन अत्यन्त प्राचीन तथा नित्य नवीन समस्याओं का कोई सन्तोषजनक समाधान सम्भव ही नही है ? ऐसा कभी नही हो सकता क्योंकि मानव मस्तिष्क में किसी प्रश्न की उत्पत्ति ही उसके उत्तर की गारण्टी करती है।

इन मौलिक समस्याओं का हस्तामलकवत् स्पष्ट समाधान है और कभी का किया जा चुका है किन्तु यह दृश्य के स्थान मे द्रष्टा के पक्ष पर हो सकता है और हुआ है। क्योंकि दृश्य, स्थूल अथवा सूक्ष्म, तो स्वत:-सिद्ध है ही नही, वह न तो अपने को जानता है और न किसी और को ही, वह तो किसी से जाना जाता हे, वह पर-प्रकाश है स्वप्रकाश नही। तद्विपरीत द्रष्टा अपने को भी जानता है और दृश्य को भी जानता है, अपना तथा सर्व दृश्य का प्रमाण है किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है, यदि ऐसा हो तो वह भी एक दृश्य ही ठहरेगा। द्रष्टा ही विश्व ज्योति है, सर्व प्रकाशक है, उसका प्रकाशक कोई नही है और न ही हो सकता है। सर्व दृश्य जगत् की सत्ता द्रष्टा के आश्रय है और चरम द्रष्टा एक ही है। यदि अनेक द्रष्टा माने जाय तो वह भी द्रष्टा का विषय ही होगे।

आत्मज्ञान अत्यन्त सहज तथा सरल वस्तु है। भला अपनी दृष्टि से अधिकतर सहज ज्ञान क्या होगा ? केवल देखना ही दृष्टि का पता देता है। इसी प्रकार वास्तव अपने आप दृष्टि भी दृष्टि है। इसे देखा नही जा सकता, केवल समझा और साक्षात अनुभव किया जा सकता है किन्तु दृश्य या इदम् रूप से कभी नहीं। क्योंकि द्रष्टा स्वभावत. विषयी है, किसी

का विषय नही हो सकता।

"अह अस्मि"—मैं हूँ का ज्ञान ही प्रत्येक अनुभव को सम्भव वनाता है। वृक्ष के अनुभव से पहले और इसके साथ आत्म-ज्ञान मौजूद होता है। आत्म-ज्ञान से बढ कर सुनिश्चित ज्ञान और कोई नही है। यह ज्ञान न केवल नि·सन्देह है अपितु इसकी अस्वीकृति भी इसकी स्वीकृति ही है। क्योंकि शक या इन्कार करने वाले की सत्ता तो माननी ही पडती है। जिस प्रकार पृथ्वी के समस्त रग रूप सूर्य के ही प्रमाण हुआ करते हैं, इसी तरह हमारा समस्त अनुभव आत्मसत्ता तथा आत्मज्योति को सिद्ध करता है। हम जगत् तथा जगत् निर्माता की सत्ता मे तो सन्देह कर सकते है किन्तु अपनी सत्ता मे सन्देह करना ऐसा ही असम्भव है जैसे अपने कन्धो पर खडा होना। अभाव, अन्धकार, वीरानी, अचेतना के अनुभव भी तो आत्मज्ञान से ही सिद्ध होते है। आत्मा (अपना आप) पराकाष्ठा है, इसी से सव कुछ सिद्ध होता है। यह वह अटल चट्टान है, जिस पर सम्यक् ज्ञान का मन्दिर अचल रूप से खडा हो सकता है। केवल वौद्धिक ज्ञान चिरस्थायी नही होता। वुद्धि अपने स्थान पर नि सन्देह उपयोगी तथा महत्व-पूर्ण है। किन्तु आत्मा वुद्धि को सिद्ध करता है और इसे मूल्य प्रदान करता है। वुद्धि आत्मा को जो स्वरूपत स्वय वेद्य है, सिद्धि करने मे असमर्थ है।

तत्वज्ञ लोगो ने मौलिक सत्य का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी ज्ञान पुष्पावली मे सन्देह के काँटे नही थे। उन्होने *"मै क्या और कौन हूँ?"* का अखण्डनीय उत्तर

ढूँढ लिया था। यह ज्ञान अन्धकार से परे है और मानव जाति की सभी समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है और यह ज्ञान ही हमें आसन्न सर्वनाश से बचा सकता है।

संक्षेप में, अहम् अस्मि, यही प्राथमिक तथा मौलिक सत्य है। जो स्वतः सिद्ध, स्वप्रकाश, अन्य सभी सत्यों का मूलाधार तथा प्रकाशक है। मैं हूँ (अहं अस्मि) सब प्रमाणों का आदि तथा अन्तिम प्रमाण है, इसमें कल्पना तथा सन्देह का दखल ही नहीं क्योंकि कल्पना या सन्देह करने से पहले ही कल्पना या सन्देह करने वाला अवश्य विद्यमान हुआ करता है।

: १ :

अपना स्वरूप

(क) सत्

"मैं हूँ" एक मौलिक सत्य है, जिसे जानने वाला भी मैं हूँ, मेरे स्वरूप को कोई अन्य व्यक्ति नहीं जान सकता, केवल मेरा रूप या गुण ही दूसरों से जाने जा सकते हैं। अपना आप किसी और का विषय नहीं है। मैं ज्ञान-इन्द्रिय द्वारा बाह्य जगत् को जानता हूँ। किन्तु मैं उसकी कोई एक वस्तु या घटना तो नहीं हूँ। सभी—दृश्य पदार्थ तथा घटनाएं मुझे अनुभव या प्रतीत होती हैं। मैं उनका द्रष्टा हूँ। किसी दृश्य को जानने की एक शर्त यह है, कि उन्हें दूसरे दृश्यों से तमीज

किया जाए। यदि मै स्वय एक दृश्य होता तो मुझे औरो से तमीज करने वाला कौन होता ? अपना आप तो अनुभव ज्योति है कि जो समकालीन किसी एक वस्तु तथा उसके इर्द-गिर्द की वस्तुओ पर पड कर उन्हे प्रकाशित तथा अनुभव करती है। विश्व-जगत् क्या है ? देश, काल, पदार्थों तथा घटनाओ से भिन्न कुछ नही है, मै तो केवल हूँ और इन्हें जानता हुआ एक दूसरे से सब को तमीज़ करता हूँ। और इसलिए इनसे ऊपर हूँ। मै ही तो 'यहाँ' को 'वहाँ' और 'वहाँ' को 'यहाँ', अतीत को भविष्य तथा भविष्य को अतीत, कारण को कार्य तथा कार्य को कारण की अपेक्षा से जानता हूँ। अत मै देश, काल और वस्तु की सीमाओं तथा उनके भेदों से ऊपर हूँ अन्यथा मै इन्हे एक दूसरे की अपेक्षा से देख या जान ही नही सकता।

जिस प्रकार मै किसी इन्द्रिय का विषय नही हूँ, उसी प्रकार कोई इन्द्रिय या उनका समूह भी नही हूँ। एक इन्द्रिय को दूसरी इन्द्रिय की सुध ही नही है। आँख कान को नही जानती, कान को आँख की खबर नही किन्तु मै विविध इन्द्रियों तथा उनके परस्पर भेदो को जानता हूँ। इन्द्रिय तो अपने-अपने विषयो को ही ग्रहण कर सकती है, मै ही हूँ, जो एक नारगी के रग, रस, गन्ध, स्पर्श को अनुभव करता हुआ भी नारगी को एक पदार्थ भी जानता हूँ। इसी प्रकार सारे विश्व को एक अनुभव करना मेरा ही काम है, किसी विशेष इन्द्रिय का नही। और मै ही हूँ जो कि इन्द्रियो के गुण, दोष तथा इनकी क्रिया तथा क्रियाहीनता को जानता हूँ।

'मैं हूँ,' किन्तु मै अन्त करण भी नही हूँ। समस्त मानसिक जगत् भी मेरा विषय है, मै ही इसे जानता हूँ, यह मुझे नही जानता। मै ही तो अपने विचारो, भावों, इच्छाओं तथा इनके आपसी भेदो को जानता हुआ इनके भले बुरे, ऊँच-नीच होने का निर्णय करता हूँ। यह अनेक और सदा परिवर्तनशील है, मै एक और सदैव एक-रस हूँ, यह तो मेरे ज्ञेय हैं और मै इनका ज्ञाता हूँ। मन तथा बुद्धि भी मुझे नही जान सकती, मै ही इनके जागने, सोने को जानता हूँ। तीनो अवस्थाओ का साक्षी भी मै हूँ।

संक्षेप में, मैं हूँ किन्तु मैं न तो बाह्य जगत् या इसका कोई अंश हूँ और न अन्तःकरण या ज्ञानेन्द्रिय हूँ। मैं इन सभी स्थूल या सूक्ष्म, बाहरी भीतरी दृश्यों से ऊपर, उनका द्रष्टा होता हुआ इनकी विभिन्न क्रियाओं को जाचने तथा जाचने वाला हूँ।

(ख) चित्

जाग्रत् अवस्था मे मै ही अपने विशेष व्यक्तित्व तथा विश्व-लीला को देखा करता हू। सब कुछ मेरे निज अनुभव से ही अनुभूत तथा सिद्ध होता है। मुझे कोई सिद्ध नही करता। और जब मै स्वप्न देखता हूँ तब भी मै ही तो सर्व स्वप्न दृश्यों का साक्षी होता हूँ। उस समय जो प्रतिभासित होता है, वह मेरी ही आत्म-ज्योति से प्रकाशित होता है, अन्धकार आलोक, सुख दुःख, जड़ चेतन, स्थावर जंगम मेरे ही रूप होते हैं।

और जब कभी सुषुप्ति अवस्था आती है, तब किसी दृश्य का भान नही होता। मै उस वीराने में और कुछ जानता या

सोचता ही नही, केवल निजानन्द का उपभोग करता हूँ । और जाग कर निर्विपय आनन्द की साक्षी देता हूँ । यदि मै इस अवस्था का साक्षी न होता, तो इस आनन्द का पता ही किसे और कैसे लग सकता ?

यह तीनो अवस्थाए आया करती हैं । प्राय इसमे से किसी एक मे दूसरी का अभाव हुआ करता है, यद्यपि असाधारणत. जागृति मे स्वप्न तथा स्वप्न मे जागृति पाए जाते है । किन्तु इन विभिन्न अवस्थाओ के आवागमन मे मै तो वही का वही, वैसे का वैसा ही रहता हूँ । यह अवस्थाए काल मे है । मै स्वय अकाल पद मे समरस विराजता हूँ । मुझ मे आवागमन आदि नही है ।

मै न तो जाग्रत अवस्था हूँ, न कोई दृश्य हूँ, न स्वप्न, न ही मै सुषुप्ति की उजाड हूँ । मै तो केवल ज्योतिर्मय हूँ, सब देश, काल, वस्तु, भाव, अभाव, अन्धकार, आलोक या सुख दु ख का प्रकाशक तो हूँ, किन्तु स्वय किसी देश काल मे नही हूँ, न ही कारण कार्य की जजीर से वँध सकता हूँ ।

किन्तु इस पर भी आत्मज्योति को विषय रूप मे देखना असभव है । सूर्यलोक स्वय कभी देखा नही जाता, वह तो पदार्थो पर प्रतिफलित हो कर ही प्रतीत हो सकता है । इसी प्रकार आख की दृष्टि जो सर्व रूपरग की प्रकाशक है, कभी देखी नही जा सकती, अन्यथा वह दृष्टि ही न होगी । अपनी दृष्टि की भाँति आत्मा का ज्ञान तो सभव है, किन्तु इद (दृश्य) रूप से आत्मदर्शन कभी होने का नही । यह तो ऐसी ही भोली-भाली बात है, जैसे कोई शिशु अपनी दृष्टि को देखने के लिए

व्यग्रता प्रकट करने लगे।

आत्म-सत्ता के समान आत्म-ज्योति भी नित्य है। जैसे अभाव की अनुभूति आत्मभाव को अकाट्य रूप मे सिद्ध करती है, उसी तरह अधकार तथा अचेतना भी आत्मज्योति के अभ्रान्त दर्पण है। कोई दृश्य चाहे हो, चाहे न हो, उसका भाव एव अभाव आत्मा से ही तो सिद्ध होता है।

जिस प्रकार अपना आप स्वयं सत्ता है, कोई विशेष वस्तु, पदार्थ या घटना नही है, इसी प्रकार आत्मा स्वय ज्योति है। ज्ञान कोई उसका गुण नही, वह तो स्वयं ही ज्ञान है। अतः जब हम आत्मा के विषय मे "क्या व क्यो" का प्रश्न उठाते हैं, तो नासमझी मे ही ऐसा करते है। आत्मा विशेष रूप से कुछ भी नही है। अत वह सीमा रहित अपरिच्छिन्न और अनन्त है। *"सत्य, ज्ञान, अनन्तं ब्रह्म।"* किसी जीव के सम्बन्ध मे तो क्या व क्यो का प्रश्न उठ सकता है, किन्तु आत्मा (ब्रह्म) के विषय मे कभी नही। नि सन्देह यह प्रश्न तो उठता है परन्तु ज्ञान आलोक में स्वय ही अन्तर्धान हो जाता है।

संक्षेप में, मैं सन्नित्, अवस्था त्रय साक्षी तथा उनसे विलक्षण, समरस, निरन्तर, अखण्ड-ज्योति व सर्व प्रकाशक हूँ। मेरा कोई प्रकाशक व प्रमाता नहीं, मैं द्रष्टा साक्षी हू, किसी का भी दृश्य अथवा विषय नहीं हो सकता। मैं सब का प्रमाण हूँ, किन्तु मेरा कोई प्रमाण नहीं। सभी प्रमाण मुझ से ही प्रमाणित हैं।

(ग) आनन्द

'अपना आप है स्वतः सिद्ध तथा स्वयं ज्योति', इस के अस्तित्व का न तो कोई कारण है और न कोई प्रमाण।

और न ही इसके सम्बन्ध मे क्या व क्यो के प्रश्न उठाए जा सकते है । क्योकि आत्मा कोई वस्तु, घटना, दशा तो है नही, इसका स्वरूप केवल होना और जानना (प्रकाशन) है ।

मै आनन्द मे रहना चाहता हूँ, यह बात मुझे किसी ने सिखलाई नही, यह मेरा अपना स्वभाव है । मुझे वही कुछ भाता है, जो सुखदायक है, दु खदायक वस्तु व घटना कभी नही । हा, आनन्द के साधन हो, तो मुझे दु ख तो क्या मृत्यु भी स्वीकार होती है ।

यदि मुझे धन, जन, जीवन, स्वर्ग व देव प्यारे लगते हैं, तो इनके द्वारा सुख पाने की आशा मे, यदि यह दु खदायक हो, तो मैं इन सब से दूर भागना चाहता हूँ । मुझे नेकी अच्छी लगती है, इसलिए कि इसका परिणाम सुख है, बुराई को बुरी जानता हूँ, इसलिए कि अन्त मे यह दु ख का कारण होगी । कई बार तो मैं क्षणिक आनन्द के लालच मे फस कर बुराई के गदे कीचड मे डूबने को तैयार हो जाता हूं । यदि मै कोई भी काम करता हूँ, तो अपने व किसी के हित (सुख साधन) के लिए ही । तारामण्डल के पर्य्यवेक्षण के लिए रातो जागता, हिमालय की नभ-स्पर्शी चोटियो पर चढता, सागर पार करता, तप करता अथवा समाधि लगाता हूँ, तो आनन्द या इसकी कोई झलक पाने के लिए ही ऐसा करता हूँ । सभी प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न हो कर आनन्द के सहारे (या कभी आनन्द पाने की आशा मे) आते हुए आनन्द की ओर ही जाते हुए दीख पडते है ।

आनन्द हमारा स्वभाव है, स्वरूप के समान, वह बाह्य

पदार्थों मे नही केवल उनमें प्रतिफलित होता है। दर्पण क्यों आनन्द देता है ? क्योकि उसमे अपना चेहरा दिखाई देता है।

यदि मै स्वय ज्योति न होता तो, मेरे लिए किसी भी पदार्थ व घटना का जानना या न जानना संभव न होता। इसी प्रकार मुझे किसी भी वस्तु का प्रिय या अप्रिय जानना केवल इस लिए सभव होता है, क्योकि मै स्वय आनन्द स्वरूप हूँ। अन्यथा मेरा जीवन तथा क्रिया असभव ही होते।

जब मैं स्वप्न मे मनोहर दृश्य देखता, मीठे राग सुनता, फूलो को छूता तथा सूंघता, रसीले भोजन करता और शीतल तालो मे नहाता हूँ, तो अपने आनन्द को ही पाता हूँ, खाण्ड बाहर से पाता हूँ, किन्तु मिठास अपने भीतर से, भंग, अफीम तो बाहर से मिलते हैं, किन्तु उनका नशा तो अपने अन्दर से आया करता है।

सुषुप्ति मे जब कुछ भी जाना नही जाता, तब उस अज्ञान दर्पण मे भी अपना आनन्द ही भासता है। और जब चित्त शात होता है, व किसी साधन द्वारा ठहराया जाता है, तब अपने अन्दर से ही आनन्द का प्रवाहित होना बतलाता है, कि न केवल आनन्द का उत्स अपने आप मे है अपितु आनन्द अपना ही स्वभाव है, जो अनुकूल पदार्थों तथा घटनाओ मे प्रतिफलित हुआ करता है। और अपने से बाहर कही और कभी नही है। प्रयोगशालाए आनन्द की चीर फाड़ नही कर सकती, बुद्धि तथा विचार भी आनन्द तक पहुच नही है। आनन्द कोई अनुमानित वस्तु नही है, यह तो सर्वसत्ता का परम तत्व है।

आत्मज्ञान ही यह परम निगूढ रहस्य स्पष्ट करता है कि जीवन ज्योति—आनन्द का उत्स अपने आप मे है, बाहर तो केवल साधन है। साध्य वस्तु अपने से बाहर नही है।

संक्षेप में, मैं सत् चित् आनन्द हूँ। समस्त जगत् मेरे होने से हो है—मेरी अनुभव ज्योति से ही भासता है। और मेरे अपने आनन्द से मीठा तथा प्यारा लगता है। पदार्थ, घटनाए तथा क्रियाएं अपने आनन्द के साधन ही हो सकते हैं, अपने आनन्द में कभी कोई कमी नहीं, हा उसके प्रतिफलन में कमी व त्रुटि हो सकती है।

२

आत्मा के धर्म

यह तो हमने आत्म-जिज्ञासा द्वारा जाना और हू बहू पहचान लिया कि आत्मा है, इसीलिए सब कुछ है। आत्म-ज्योति से ही सब कुछ अनुभव हो रहा है, तथा आत्मानन्द से ही सभी कुछ प्यारा लगता है व कुछ प्यारा नही लगता और जीवन तथा उसका विकास सभव हुआ है।

किन्तु स्वभाव के अतिरिक्त आत्मा अपने धर्म व लक्षण भी रखता है। जो स्वधर्म है, उस पर आरोपित नही किए गए। स्वभाव से तो आत्मा सर्व्वाधिष्ठान है, जिसके सहारे जीवन सभव होता है। आत्मा के बिना तो कुछ हो ही नही सकता, कुछ जाना ही नही जा सकता, और न जीना ही संभव होता है। आत्मा ही सर्व जीवन का बीज तथा मूल भित्ति है।

परन्तु आत्मा के धर्म का ज्ञान जिसे केवल मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है, मानव जीवन को महिमान्वित करता है ।

जो लोग यथार्थ आत्मज्ञान से वचित होते हैं । वे लोग अपने को एक क्षुद्र, तुच्छ, परिच्छिन्न जीव मानते हुए सदा भीत तथा दीन हीन रहते तथा सदा कोई न कोई आश्रय ढूँढते हुए अपने को समर्पण करना या लय होना चाहते हैं । और अपने सामने अनन्त प्रगति तथा निजानन्द की प्राप्ति का कोई मार्ग देख नही पाते, वे अपन को योनि-चक्र मे फसा देख कर जन्म मरण से मुक्ति का द्वार खटखटाया करते हैं । वे दास्य भाव तथा अधीनता को ही अपना परम धर्म मानते है । उन्हे जीवन मुक्ति तथा सार्थकता का पूर्ण आनन्द प्राप्त नही होता तथा उनकी अनन्त सभावनाए सुप्त तथा अविकसित ही रहती है । अत. जीवन की सफलता के लिए आत्म धर्मो का जानना अत्यावश्यक है ।

(क) अनन्त

आत्मा (ब्रह्म) अनन्त है, अर्थात् उसमे देश, काल वस्तु का परिच्छेद नही है । आत्मा के लिए सर्व 'यहा' है, सभी कुछ अब है, समस्त विश्व अपना आप है, इसलिए 'यहां' और 'वहां', 'भूत' और 'भविष्य', 'आप' और 'पर' का विभाग नही है । और न ही 'अहं', 'त्वम्', 'यह', 'वह' का भेद है । वह इन भेदों को जानता हुआ इन से ऊपर है । यदि आत्मा ससीम होता तो देश की सीमाओ, काल के प्रवाह, तथा पदार्थों के पारस्परिक भेदों को कैसे जान सकता ? इस्य

की सीमा या अन्त को ही देखा जा सकता है। भला द्रष्टा मे सीमा के भेद को कौन जाने या देखेगा ? द्रष्टा का द्रष्टा नही हो सकता। आत्मा आत्मा से ही जाना जा सकता है, किसी और बाहरी या भीतरी करण द्वारा नही।

आत्मा देशगत न होने से न अन्दर है न बाहर, न नीचे है न ऊपर, न निकट है न दूर, न आगे है न पीछे। आत्मा है, किन्तु किसी देश मे नही।

कालगत न होने के कारण आत्मा नित्य वर्त्तमान है, न कभी हुआ था और न कभी होगा, अनादि तथा अनन्त है, किसी से पहले या पीछे नही। स्वय अकाल होने से ही वह मृत्यु तथा प्रलय को जान सकता है। वस्तुगत न होने के हेतु आत्मा किसी वस्तु के भीतर व उसके बाहर नही है, न शरीर मे और न बाह्य जगत मे है।

उत्पत्ति, नाश, अभाव, मृत्यु आत्मा से सिद्ध होने के कारण इसे छू नही सकते। मृत्यु को जानने तथा सिद्ध करने वाला भला स्वय कैसे मर सकता है ? तब उसकी मृत्यु को सिद्ध करने वाला कौन होगा। मृत्यु, क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है, क्षेत्रज्ञ से कभी नही। आत्मा केवल अनन्त ही नही, अपितु अपने धर्मों मे भी अनन्त है। समस्त विश्व ही अनन्त ज्ञान, शक्ति, आनन्द तथा सौन्दर्य की घोषणा कर रहा है। मानव हृदय से अनन्त प्रगति की उमगे उठ रही है। और मनुष्य बडी से बड़ी असफलता पर भी हताश नही होता। कोई भी कलाकार या समाज सेवक आज तक कह नही सका, कि उसने सम्भावनीय ज्ञान या शक्ति, आनन्द, सौन्दर्य या मंगल

की चरम सीमा देख पाई है। मानव मूल्यो का अन्त न किसी को मिला है, और न मिलेगा। इसी लिए तो मानव अनन्त प्रगतिशील है। यदि वह एक क्षुद्र जीव होता तो कभी का सन्तुष्ट हो चुका होता।

(ख) एक अद्वैत

देश, काल, वस्तु, गुण, परिमाण आदि के समान नानत्व भी दृश्य से सम्बन्ध रखता है, द्रष्टा से कभी नही, क्योंकि द्रष्टा को इदम् रूप से नही जान सकते। इसलिए आत्मा (सर्व प्रत्यसाक्षी) के बारे मे नानत्व की धारणा नितान्त बेसमझी की बात है। जो अनन्त है, वह अवश्य एक तथा अद्वैत ही होगा। क्योकि इसके इतर कुछ भी होना उसकी सीमा का द्योतक होगा। जो लोग ईश्वर को अनन्त बतलाते हुए कहा करते है, कि ईश्वरीय सत्ता से भिन्न प्रकृति या जीव आदि भी अपनी सत्ता रखते है, वे अपने अतिवाद को नही जानते। अवश्यम्भावी रूप से अनन्त या तो सर्व होगा या होगा ही नही। अनन्त से इतर कुछ हो ही नही सकता, इस लिए ब्रह्म या तो सभी कुछ है या है ही नही।

'सर्व खल्विद ब्रह्म।'

ससार मे अणु, परमाणु, जीव, गुण, शक्तिया, क्रियाएं, स्वभाव स्पष्टत: अनेक हैं, किन्तु यह सब के सब एक ही अखण्ड, समग्र के विभिन्न प्रकार अथवा विभाव ही तो है। यथा एक ही जीवित देह में नाना अङ्ग उपाङ्ग, रचनाए, क्रियाए देखी जाती है, परन्तु उनके भेद से उस देह के एकत्व में कोई अन्तर नही

आता तथा इस जगत मे अनेक प्रकार के नानात्व के होते हुए भी यह सारा विश्व *"पिण्डम् एकम् अखण्डितम्"* *"एक मेवाद्वितीयम्"* ही है। और इस जगदव्यापी एकता का रहस्य आत्म-एकत्व मे है। और इसी लिए क्षुधा तथा अन्न, फुप्फुस तथा वायु, चक्षु तथा आलोक एव वृक्ष लतादि तथा पशु पक्षी मे आश्चर्यपूर्ण तालमेल दीख पडता है। समस्त पदार्थ परस्पर सम्बद्ध है। यदि *"सूत्रे मणिगण इव"*, सभी पदार्थ और घटनाएं एकात्मा तत्व मे न पिरोई होती, तो कोई किसी को अनुभव न कर सकता, कोई किसी से प्रभावित या किसी का सहायक न हो सकता और परस्पर व्यवहार असम्भव होता। यह व्यापक एकत्व ससार पर बाहर से नही थोपा गया, अपितु पदार्थों के स्वभाव मे ही विद्यमान है। अत जो अनन्त है, वह एक अद्वैत भी है। और जिस प्रकार अनन्त को अवश्यम्भावी रूप से एक अद्वैत मानना ही पडता है, उसी प्रकार अनन्त को पूर्ण, विभु, नित्य, मुक्त मानने के सिवा कोई चारा नही है।

जिस हेतु से आत्मा नित्य है, किसी भी प्राणी को मरना या मिटना अभीष्ट नही है। वह मुक्त है, इसलिए हमे मोक्ष या स्वातन्त्र्य प्यारा लगता है, बन्धन भाता नही, हम अटल प्राकृतिक नियमो को जानकर उन्हे अपनी उद्देश्य पूर्ति के साधन बना सकते हैं। और आत्मा की पूर्णता के कारण ही हम अपनी अपूर्णता पर सन्तुष्ट नही रह सकते।

केवल आत्मज्ञान ही इस भेद को खोल सकता है कि क्यो हमे दीनता, हीनता, दासता, अपूर्णता, दुर्बलता, अधीनता,

मृत्यु, दारिद्रय या बंधन स्वीकार नही है। और क्यों द्वैतभाव भय को उत्पन्न करता है।

(ग) निर्गुण

आत्मा का स्वरूप तथा इसके धर्मो का विवरण पढ़ कर जिज्ञासु हैरान होगा, और प्रश्न करेगा कि फिर आत्मा निर्गुण कैसे कहा जाता है ?

आत्मा को निर्गुण इसलिए कहा जाता है कि जितने भी गुण है, वे क्षेत्र मे है, क्षेत्रज्ञ मे नही। क्षेत्री तो केवल गुणो को विपय करता है, किसी का विषय नही हो सकता। दृश्य जगत त्रिगुणात्मक है, और आत्मा त्रिगुणातीत है। सारे संसार में यह तीन गुण मिश्रित रूप मे पाए जाते है, किसी पदार्थ में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी के अनुसार उसका वर्गीकरण हुआ करता है। प्रकृत्ति के तीन गुण यह है :—

(क) तमस्, यह जडता, आलस्य, निद्रा, अविद्या, निश्चेप्टता, गतिहीनता का कारण होता है। सुषुप्ति मे इस अन्धकारमय गुण का पूर्णत. अनुभव हुआ करता है। शोक, मोह, निराशा, भय तथा दु ख इसी गुण से उत्पन्न होते है।

(ख) रजस्, गति, वासना, व्याकुलता, चाञ्चल्य, गर्व, शक्तिप्रियता इस गुण से उद्भूत होते है। यही गुण संसार में अशान्ति, विरोध, सघर्ष तथा मारधाड़ का हेतु है। स्वप्नावस्था मे यह गुण खुल कर खेलता है।

(ग) सत्व, ज्ञान, शान्ति, आत्म-प्रसाद, सामञ्जस्य,

प्रेम, पवित्रता, इसी गुण के फल है। जाग्रत अवस्था मे इसका सर्वाधिक प्रकाश देखा जाता है। इस गुण की प्रधानता ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

जड जगत मे तमोगुण की प्रधानता है, पशु जगत मे रजोगुण का राज्य है और मानव जगत मे सत्व गुण का प्राधान्य होना चाहिए जो कि अब तक नही हो पाया। और इसीलिए मानव अपनी मानवता को प्राप्त करने मे असफल रहा है। यहाँ पर एक प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न होता है, कि जब आत्मा निर्गुण, अनन्त, एक, अद्वैत तथा पूर्ण है, तब यह गुण आए कहाँ से ? द्वैतवादियो ने तो गुणो को प्रकृति के मत्थे मढ दिया है। और मायावादी इन्हे अनिर्वच-नीय माया का ऐन्द्रजालिक तमाशा बतलाते है। किन्तु इस से प्रश्न का हल तो नही मिलता, केवल इसे एक और पद प्रकृति व माया तक धकेल दिया जाता है।

हम यहाँ पर केवल एक दो सकेत देते हुए, अगले अध्याय मे इस प्राचीन तथा चिर नवीन समस्या के समाधान का प्रयत्न करेगे।

सूर्यालोक कोई रग नही रखता, किन्तु इसी से सब रंग प्रकट होते है। बीज मे अणुवीक्षण द्वारा भी शाखाओ, पत्तों, कांटो, फूलो, फलो का कोई चिह्न नही मिलता, किन्तु बीज के उगने पर उससे वृक्ष उत्पन्न होने लगता है।

इसी प्रकार सम्भवत: निर्गुण से ही सभी गुणो का आविर्भाव होता है। निराकार से ही सभी आकारो, निर्विकार से ही सभी विकारो, त्रिभेद शून्य से सभी भेदों, और "कुछ

नही" से ही "सब कुछ" का आविर्भाव होता है। और वस्तुत. यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जो जीवन क्षेत्र में आत्म ज्ञान के पास या फेल होने का निर्णय करता है।

(घ) निराकार तथा निर्विकार

आत्मा की यथार्थ पहचान होते ही यह बात स्वय स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा निराकार तथा निर्विकार है। क्योकि आकार तो दृश्य तथा अनुभूत पदार्थों का ही हो सकता है, द्रष्टा का कभी नही। दृष्टि सब रूपो को देखती हुई स्वयं कोई आकार नही रखती। श्रोत्र, रसना, त्वक् तथा घ्राण सुनते, चखते, सूघते तथा स्पर्श करते हुए भी क्रमश: अशब्द, अरस, अगन्ध तथा अस्पर्श ही होते हैं। इसी प्रकार सब का द्रष्टा सब से न्यारा है। दृश्य के किसी भी गुण का उसमे आरोप नही कर सकते।

हाँ, एक प्रकार से वह साकार भी है कि समस्त दृश्य जगत के रूप उसी के रूप कहे जा सकते है, जैसे वृक्ष के नाना रूप वस्तुत. बीज के ही रूप होते है। इसलिए यह कहना ठीक होगा, कि आत्मा सर्व रूप है, किन्तु वह कोई विशेष रूप नही रखता। इसी प्रकार सर्व विकार दृश्य तक ही सीमित हैं। द्रष्टा मे यदि विकार हो भी तो उसे देखने वाला कौन होगा?

दृश्य जगत का स्वभाव ही लगातार बदलते रहना है। सर्व दृश्य का अस्तित्व ही लगातार बदलते रहने में है। निरन्तर बदलते रहना केवल पदार्थों के अस्तित्व की ही नही,

बल्कि जीवन की शर्त है। राग लगातार न बदले तो रंग ही नही रहता। स्थूल तथा सूक्ष्म जगत क्षण-क्षण में बदल रहा है। सिनेमा देखने वाले कल्पना करते है कि वह वही का वही चित्र देख रहे हैं। किन्तु वस्तुत चित्र क्षणिक होता है और अपने प्रवाह के द्रुत वेग के कारण स्थायी प्रतीत होता है।

वास्तव मे व्यष्टि समष्टि, सूक्ष्म स्थूल, स्थावर जगम सभी कुछ प्रवाह रूप हैं। जीने के लिए प्रत्येक प्राणी निरन्तर मरता हुआ जन्म ले रहा है किन्तु आत्मा मे कोई परिवर्तन या विकार नही होता, वह तो ज्ञानामृत तथा समरस है।

परन्तु फिर यह विकार कहाँ से और क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर भी अगले अध्याय मे दिया जाएगा। जब यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि समस्त जगत आत्मा का ही प्रकाश है और निरन्तर बदलना इसकी शर्त है। कुछ भी हो, आत्मा अपने स्वरूप मे निर्विकार है।

संक्षेप में—मैं सत्, चित्त् आनन्द हूँ। एक अद्वैत, विशुद्ध सत्ता, नित्य, अनन्त, पूर्ण, मुक्त, स्वतन्त्र, अक्षय जीवन, अनन्त शक्ति, सर्व हक, सर्व साक्षी, अनन्त ज्ञान का भण्डार, रस स्वरूप, सौन्दर्य की खान, स्वयं प्रेम तथा शान्ति, देश काल, वस्तु से ऊपर, अपने धर्मों में अपार, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, पचकोश से न्यारा, समरस, गुणातीत तथा सर्व गुण विधान हूँ। जगत मेरे आश्रय है। मैं स्वस्थ, निरालब, सर्वाधिष्ठान हूँ। निर्विशेष तथा अकारण हूँ। मेरे विषय में 'क्या' तथा 'क्यों' का प्रश्न उठता ही नहीं।

●

तृतीय भाग

यह क्या है ?

(क) एक भीतरी सकेत

(ख) जगत् सवेदन से पृथक कोई अस्तित्व नही रखता ।

(ग) इन्द्रिय तथा मन क्या है ?

(घ) देश, काल तथा कार्य कारण-भाव

१ देश मन में है

२. विश्व जगत् अपना ही चमत्कार है

यह क्या है ?

अब हम देख चुके है, कि आत्मा के विषय मे क्या तथा कौन का प्रश्न उठता तो है, किन्तु आत्मज्ञान की एक किरण पडने से ही उड जाता है ।

परन्तु आत्मज्ञान भी सन्तोषजनक नही हो सकता, जब तक कि इस प्रश्न का उत्तर न मिले, कि यह जगत जो यावज्जीवन अज्ञानो तथा ज्ञानी को भासता है, 'क्या' और 'क्यो' है । ससार की प्रत्येक वस्तु व घटना और सारी सृष्टि ही आकाश के विशाल बोर्ड पर यही प्रश्न हमारे सामने रख रही है, कि मै 'क्या' या 'क्यो' हूँ ।

जगत को रज्जु मे सर्प की प्रतीति के समान भ्रम मात्र कह दे तो काम न चलेगा । क्योकि यदि जगत मिथ्या है, तो मनुष्य जगत रूपी वृक्ष का एक सर्वोच्च अश ही है । वह भी तथा उसका मस्तिष्क, तथा उससे उदभूत होने वाले प्रश्न भी मिथ्या ठहरेगे । और स्वय भ्रम का शब्द भी व्यर्थ होगा और सत् तथा असत् का विवेक भी अर्थहीन होगा ।

दर्शन शास्त्र जो जगत को बातो बातो मे ही उड़ाना चाहता है, वह जीवन की जटिल समस्याओ का भला क्या समाधान करेगा ? और ऐसे आत्मज्ञान से भी क्या लाभ जो

स्वयं जीवन को ही व्यर्थ बना दे ? जीवन सदैव सम्बन्ध में अस्तित्व रखता है। यदि चक्षु तथा आलोक का सम्बन्ध ही न हो, तो चक्षु का अर्थ ही क्या होगा ? और यदि केवल आत्मा ही है, जगत कभी हुआ ही नहीं, तो जीवन और उसका साफल्य कहाँ ? इसलिए इस 'क्या' और 'क्यो' के प्रश्न का सामना करना ही होगा।

दर्शन तथा विज्ञान इस बुझारत को बूझ नही पाए। दर्शन कुछ दूर तक दौडता हुआ बेहोश होकर गिर पड़ता है। विज्ञान भी कारण का कारण ढूंढने की दौड में कही टिकाव न पाता हुआ, चकित रह जाता है, यह दोनों प्रत्यक्ष तथा अनुमान से परे नही जा सकते। दर्शन चरम सत्ता की कल्पना तो करता है, किन्तु इसे हू वहू पहचानता नही, विज्ञान एक बहुरूप शक्ति पर तो पहुँचता है, किन्तु शक्ति की क्रिया तथा उसके नियमो को ही जानता है, उसके स्वरूप को कभी नही।

धर्म यह दावा करता है, कि वह इस प्रश्न का उत्तर सतोषजनक दे सकता है और बतलाता है, कि जगत को सर्वशक्तिमान ईश्वर ने रचा है, जो विश्व का आदि कारण है, किन्तु जब उससे पूछा जाय कि कारण कार्य नदी तो काल के अन्तरगत है, काल कहाँ से आया ? तो कोई उत्तर नहीं मिलता। यदि जगत अपने आप नहीं हो सकता, तो इसका रचने वाला कैसे हो गया, तो वह चुप हो जाता है।

इस महत्वपूर्ण विषय मे दर्शन, विज्ञान तथा साम्प्रदायिक धर्म के विफल होने का कारण यह है, कि सब मे पहले आत्मा जो प्रमाणों का प्रमाण, स्वतः सिद्ध, स्वप्रकाशक है, नहीं

पहचाना गया।

जब तक कोई व्यक्ति अपने चेहरे को ही न जाने, तो वह दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को क्या समझेगा ? देखने वाला तो चेहरे मे है और प्रतिबिम्ब उसका आभास मात्र है। प्रतिफलन से ही चेहरा दीख पडता है। और जब देखने वाला जान लेता है कि यह उसका अपना ही प्रतिफलन है, तब कोई समस्या ही नही रह जाती।

एक नादान बच्चे को यह देखने के लिए, कि दर्पण मे उसका अपना ही प्रतिफलन है और उसको यह जाचना है, कि प्रतिफलन मे उसका अपना क्या कुछ है ? जब वह देख लेगा कि वह हाथ हिलाता है, हिलता डुलता है, उठता बैठता है, अथवा वस्त्र पहनता या उतारता है, और सब कुछ वही आभास मे दिखाई पडता है, तब उसे तनिक सन्देह नही रहता कि दर्पण मे मै अपने को ही देख रहा हूँ।

इसी प्रकार यदि यह स्पष्ट हो जाये कि अनादि तथा अनन्त जगत मे जो कुछ प्रतिभासित हो रहा है, वह आत्म-विभूति से इतर कुछ नही है, तो वह आनन्द से उछल कर कहने लगेगा कि यह आकाश भरा विभव तथा सौदर्य मेरा अपना ही चमत्कार है। असख्य ब्रह्माण्ड मेरी ही जगमगाती हीरक मालाए है, बसन्त ऋतु मे मेरी ही बहार है। मै ही प्रभात मे हँसता, नदी नालो मे दौडता, वायु मे टहलता, शाखाओ मे झूमता, आबसारो मे गाता और सूर्य की रगारंग किरणो को पहने हुए हूं, तब उसके जीवन मे अधेरी रात से दिन हो जायगा। वह मानो सोया हुआ जाग उठेगा। और

उसे अपने चारो ओर भ्रमजाल दिखाई देने के स्थान मे आत्म-प्रकाश के सिवा कुछ और दिखाई न देगा ।

(क) एक भीतरी संकेत

समझने वाले के लिए प्रत्येक अनुभव ज्ञानप्रद होता है, यहा तक कि वह भ्रम से भी कुछ न कुछ सीख लेता है। वह झूठ से सत्य तथा भूल से भी किसी तथ्य का पता लगा लेता है ।

ससार मे ऐसे व्यक्ति विरले ही होगे, जिन्हे कभी स्वप्न ही न आया हो । प्राय. स्वप्न बार-बार आया करते है, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि हम इन्हे केवल भ्रम जान कर जीवन के अनुभव मे कोई महत्व नही देते, जब कि यह अनुभव अर्थहीन भी नही हो सकता ।

स्वप्न का अनुभव भी अवश्य ही कोई न कोई अर्थ रखता है । यह कम से कम दिखलाता है, कि सङ्कल्प मे सर्जन शक्ति विद्यमान है । और स्वप्न कभी अकारण नही हो सकता । इस अवस्था में हमारा अपना विचार ही एक सृष्टि रच लेता है, जिस मे साक्षात सूर्य्य चमकता है, वायु चलती है, नदिया बहती हैं, बादल गरजते हैं, उद्यान खिलते और महकते है, पक्षी चहकते हैं · और जब तक स्वप्न बना रहता है, सभी पदार्थ तथा घटनाएँ जाग्रत जगत के समान ही वास्तविक प्रतीत होती है । अपना संकल्प ही पत्थर की कठोरता, पुष्प की कोमलता, आग की उष्णता, बर्फ की शीतलता, तलवार की तेजी, कुदाल की कुन्दी, आकाश की विशालता, अरु रेणु

की छुटाई, पर्वतो की ऊचाई, खड्ढो की निचाई, दिन के उजियारे तथा रात के अधियारे का रूप धारण कर लेता है, और यह पदार्थ तथा घटनाए अपने से बाहर प्रतीत होती हैं। किन्तु जागते ही यह बात खुल जाती है, कि जितना भी स्वप्न दृश्य दीख पड़ता है वह सभी अपने मन की रचना हुआ करता है।

यहा पर यह आपत्ति हो सकती है, कि स्वप्न मे जो कुछ देखा जाता है, उसकी सामग्री तो जाग्रत अनुभव से ही आती है, और यह एक सीमा तक ठीक भी है। किन्तु स्वप्न में जाग्रत अवस्था के सस्कार मात्र ही नही होते, बल्कि वहा तो हम हू बहू पदार्थ तथा घटनाएँ देखा करते है। स्वप्न मे पर्वत सचमुच कठोर दिखाई देता है, आग जलाती है, तलवार काटती है, वहा तो जाग्रत अवस्था के समान पदार्थ अनुभव होते हैं। हम केवल चिह्न ही नही देखते। खानो का रस लेते है, फलो को चखते हैं, स्वस्थ, रुग्ण, सुखी और दुखी होते है, और स्वप्न के नक्शो को तो मन ही रचता है, वह जागृति से तो नही आते।

स्वप्नावस्था मे अपने ही चेतन व अवचेतन मन से सकल्प उठकर द्रष्टा व दृश्य बन जाता है। वह एक ओर आप मन—इन्द्रिय होता है और दूसरी ओर पदार्थ—घटनामय जगत। जागृति तथा स्वप्न के अनुभव मे तो समानता है, अर्थात् स्वप्न मे जागृति के समान ही अनुभव होता है। यदि इन अवस्थाओं मे भेद है, तो इतना ही, कि जहा स्वप्न जगत केवल व्यक्ति के मन की रचना होने से अस्थायी होता है, वहाँ जाग्रत जगत

दीर्घकाल के लिए स्थायी तथा अव्यक्तिक होता है।

किन्तु स्वप्न का अनुभव एक संकेत ही देता है, नि.संदिग्ध रूप से सिद्ध नही करता कि जाग्रत जगत भी हमारे मन की रचना है। इसीलिए तो साक्षादभाव से सिद्ध करना होगा कि जाग्रत अवस्था मे भी जो कुछ अनुभूत होता है, वह भी मन से तथा उसके अन्तरगत है और इसलिये मन का ही रूप है।

(ख) जगत् सवेदन से पृथक कोई अस्तित्व नहीं रखता

साधारण धारणा तो यही है, कि तथाकथित वाह्य प्रपंच मे हम जो भी रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द अनुभव करते हैं, वे हमारी चेतना से वाहर या पृथक अस्तित्व रखता हुआ, इन्द्रिय द्वारा अनुभव होता है। वाहर से अनेक प्रकार की वाह्य उत्तेजनायें हमारी इन्द्रियों पर प्रभाव डाला करती है। जैसे ईथर की लहरें आखो में, और वायु के कम्पन कानों मे रूप और शब्द के तौर पर प्रतीत होते हैं। अव विचारणीय विषय तो यह है, कि वाहर की घटनाएं तो हमारी इन्द्रियों में प्रवेश नही कर पाती, वह तो केवल अपना प्रभाव ही डालती है। हमें जो कुछ अनुभव होता है, वह तो उन उत्तेजनाओ के उत्तर मे हमारे इन्द्रिय-गोलको की प्रतिक्रिया ही होती है और हम अपनी प्रतिक्रिया के सिवा और कुछ जान ही नही सकते। दृष्टान्त के तौर पर जव हम आकाश मे सूर्य को देखते हैं, तो प्रचलित सिद्धान्तानुसार सूर्य की किरणें हमारी आंखो में प्रवेश पाकर अन्दर रैटिना (Retina) पर अपना बिम्ब बनाती

है और हम उस चित्र को अनुभव करके अनुमान कर लेते है, कि हमारी आखो से बहुत दूर तथा उन से बहुत बड़ा सूर्य आकाश मे विद्यमान है। यही हाल सभी पदार्थो का है। नि सदेह यह पदार्थ हमारे शरीर से बाहर होते हैं, किन्तु वह हमारे इन्द्रिय गोलको से बाहर होते हुए भी हमारे इन्द्रिय, मन तथा चेतना से तो बाहर नही होते, और कभी हो ही नही सकते। उत्तेजक पदार्थो को अपने से भिन्न जानने और मानने का एक कारण यह भी है, कि उनका अनुभव हमारी स्वेच्छा के अधीन नही है। हमारे वश की बात नही, कि जब और जिधर चाहे सूर्य को देख ले, जहा भी चाहे फूलो को देख और सू घ सकें।

एतदव्यतीत यह भी एक अकाट्य तथ्य है, कि चाहे ससार मे असख्य पदार्थ व उत्तेजनाये विद्यमान हो, परन्तु जब तक कोई इन्द्रिय तथा मन विद्यमान न हो, उनका होना भी न होने के समान होगा। अनुभवकर्ता के बिना अनुभूत सत्ता या उत्तेजना का होना ही कौन सिद्ध करेगा ? अनुभव नही तो कुछ भी नही। सेक तथा जलन, सत्ता तथा अनुभव, एक दूसरे से भिन्न अस्तित्व नही रख सकते। भौतिक विज्ञान की यह पुरानी और बड़ी भूल चली आती है, कि वह ऐसे देश काल की कल्पना कर लेता है, कि जहा और जब, पदार्थ तथा घटनाए तो विद्यमान थी, किन्तु उनको अनुभव करने वाले इन्द्रिय तथा मन अविद्यमान थे। रग रूप तो थे, किन्तु चक्षु इन्द्रिय अभी तक विकसित न हुई थी। भौतिक जगत तो विद्यमान था, किन्तु कोई उसका द्रष्टा ही न था। वह अभी

तक नही जान पाये, द्रष्टा तथा दृश्य, चेतन तथा जड, एक दूसरे के सम्बन्ध में ही सत्ता रखते है। यह विशाल तथा प्रकाण्ड जगत भी इन्द्रिय तथा मन या चेतना से बाहर या भिन्न कोई सत्ता न रखता है और न रख सकता है।

ठीक जिस प्रकार आलोक के बिना या उस से भिन्न किसी रङ्ग की सम्भावना नही है, इसी प्रकार यह तथाकथित जड़ जगत् भी चेतना से भिन्न या बाहर कोई सत्ता नही रख सकता।

(ग) इन्द्रिय तथा मन क्या है ?

हो सकता है, जिज्ञासु के मन मे यह प्रश्न उत्पन्न हो कि सारा जगत् तो इन्द्रिय तथा मन के अन्तरगत सिद्ध हो गया, परन्तु इनकी अपनी समाई कहा होगी ? यह जगत् के अन्दर नही तो कहा है ?

यह तत्व हृदयगम कर चुकने पर कि तथाकथित बाह्य जगत इन्द्रियो की अपनी अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ नही है। यह भी देखना होगा, कि इन्द्रिय, रूप, रस, गन्ध, शब्द या स्पर्श को तो अनुभव करते हैं, किन्तु वह आप कोई रङ्ग, रूप, रस, शब्द तथा स्पर्श नही रखते। यह तो इन्द्रिय के गोलक है, जो यह गुण रखते हैं।

इन्द्रिया तो सवेदनात्मक शक्तियां है और वह ज्ञानमय है। इनकी सत्ता अन्त.करण से भिन्न नही है। एक ही मन अनेक रूपो में काम करता हुआ, अनेक संज्ञा पाता है और उन रूपों को विभिन्न शक्तिया मान लिया जाता है।

मन भी इन्द्रियो के समान अपना भौतिक यन्त्र रखता है, जिसे मस्तिष्क (Brain) कहा जाता है, किन्तु मन तो इसका यन्त्री है। मन भी ज्ञानमय सत्ता रखता है और ज्ञान स्वरूप आत्मा के प्रकाश का एक विशेष केन्द्र है। जगत, इन्द्रिय तथा मन के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विचार सुनकर जिज्ञासु प्रश्न कर सकता है, कि क्या वह सारा जगत स्वप्न के समान सङ्कल्प मात्र ही है ? क्या पर्वत, सूर्य, चन्द्र, भूकम्प, आणविक अस्त्र और उद्‌जन बम्ब केवल विचार ही है ? क्या काटने वाली तलवार और विद्ध करने वाले तीर सङ्कल्पमात्र ही होते है ? और यदि यह विश्व जगत कल्पना रचित खेल है, तो नङ्गल-भाखडा ऐसी योजनाओ की आवश्यकता ही क्या होगी ? बस ख्याल का जादू ही सभी मनोरथ पूरे कर देगा। मन तथा शक्ति एक ही वस्तु नही है।

नि सन्देह चेतन मन के स्तर पर ख्याल तथा शक्ति एक वस्तु नही है, किन्तु अचेतन या अवचेतन मन के स्तर पर इन दोनो की एकता देखी जाती है। हिप्नोटिज्म (Hypnotism) के प्रयोग दिखाते है कि सूचना के बल से जल और उसकी ठण्डक, अग्नि और उसकी जलन उत्पन्न हो जाते हैं, सूचना द्वारा ही श्वेत छाले निकल आते हैं, कुनीन मीठी लगती है इत्यादि। स्वप्नावस्था मे भी, जो अवचेतन मन का खेल है, जागृति के सस्कारो का ठोस पदार्थों मे बदलना देखा जाता है।

अत. मन तथा जगत दो विभिन्न सत्ताए नही हैं, भेद ऊपरी है, अन्दर से दोनो एक हैं, अन्यथा मन तथा जगत के मध्य मे इतना सामजस्य न पाया जाता। मन इस जगत को

अनुभव ही न कर सकता, और जगत की प्रकाण्ड शक्तियों और नियमो से अवगत होकर इन्हे अपने मानव उद्देश्यों की सेवा मे नियुक्ति करने का दु.साहस न रखता, किन्तु मानव यह जन्मजात विश्वास रखता है कि सृष्टि अपना कोई भी रहस्य सदा के लिए मनुष्य से छिपा नही सकेगी। इसकी सारी शक्तियो को अन्तत. मानव के अग उपाग बनना पड़ेगा और समस्त प्राकृतिक शक्तिया इस अमृत पुत्र की बादियां हो कर सफलता प्राप्त करेगी।

(घ) देश-काल तथा कार्य-कारण-भाव

हम ने यह तो जान लिया, कि जिस प्रकार आलोक के अभाव मे रंग अपना अस्तित्व नही रख सकते, इसी प्रकार इन्द्रिय, मन तथा चेतना के अभाव मे रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श-मय विश्व प्रपंच कोई अस्तित्व नही रख सकता। इन्द्रिय गोलक तो स्पष्टत जगत के भीतर है, परन्तु जगत इन्द्रिय तथा मन से बाहर नही, अपितु हमारे सवेदन का ही रूप है।

किन्तु यह बात माननी ही पडेगी, कि इन्द्रिय से बाहर कोई न कोई कारण या शक्ति विद्यमान है, जो इन्द्रिय पर प्रभाव डालती हुई विभिन्न प्रकार के सवेदन उत्पन्न करती है। और स्वय इन्द्रिय अपने भीतर से ही रूप, रस आदि सवेदन उत्पन्न नही कर सकते। इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है, कि इन्द्रिय पर प्रभाव डालने वाली शक्ति कहां स्थान रखती है ? और इसके साथ ही दो और प्रश्न खड़े हो जाएंगे, कि यह जगत देश मे फैला हुआ है, इन्द्रिय देश में है, देश तो

इनके क्षुद्र गोलको मे नही समा रहा। दूसरा प्रश्न यह है, कि इन्द्रिय तथा उनके विषय तो काल मे बदलते रहते है, इन्द्रिय तथा उनके विषय काल मे है, काल उनमे नही है। अब यह प्रश्न उठना है, कि देश-काल तथा कारण-कार्य यदि इन्द्रिय मे नही तो हैं कहाँ ? भला यह सारा प्रपच तो इन्द्रिय मे ही है, उन के गोलको मे नही, तो देश, काल, वस्तु किस मे हैं ?

प्राचीन ऋषियो ने अपने सहज ज्ञान (Intution) से ही साक्षात अनुभव कर लिया था कि देश, काल तथा वस्तु अपने आप (आत्मा) बल्कि जीव मे है, आत्मा या जीव उनमे नही है। किन्तु भौतिकवादी ऐसा नही मानते। पश्चिमी देशो मे काण्ट ने सिद्ध किया कि देश और काल मन मे हैं। समस्त विश्व मन मे है, मन विश्व मे नही, किन्तु जर्मन दार्शनिक शापनहार ने तो इस तत्व को यौक्तिक रीति से ऐसा स्पष्ट कर दिया है, कि इसमे सन्देह का कोई स्थान ही नही छोडा। यदि सत्य-प्रिय जिज्ञासु इन युक्तियो पर पूरा पूरा ध्यान देगा, तो वह स्पष्ट देख लेगा, कि देश-काल तथा कारण-कार्य मन से तथा मन मे ही अस्तित्व रखते हैं।

देश मन में है

(क) मैं देश को जानता हूँ। यह ज्ञान या तो बाहर से आता है या मुझ में ही विद्यमान है। किन्तु वाह्य अनुभव से

तो देश का ज्ञान सभव ही नही है, क्योकि वाह्य अनुभव अपनी विद्यमानता से पहले देश-ज्ञान को आवश्यक ठहराता है। मै वाह्य अनुभव से पहले अपने सवेदनो को बाहर ही कल्पना करता हूँ । अत. प्रत्येक अनुभव से पहले ही देश का अस्तित्व मानना पडता है। और इसलिए देश का ज्ञान वाह्य अनुभव द्वारा प्राप्त होने के स्थान मे अपने मन से ही उद्भूत हुआ करता है।

(ख) मै वाह्य जगत के ज्ञान मे प्रत्येक वस्तु के न होने की कल्पना कर सकता हूँ, किन्तु देश के न होने की कल्पना नही कर सकता। मैं यह बात सोच ही नही सकता, कि बाहर देश विद्यमान नही है, जब कि जितने भी देशगत सवेदन ख्याल मे आ सकते हैं, उन सभी का न होना सोच सकता हूँ। किन्तु देश के न होने की कल्पना सभव ही नही है। इससे सिद्ध होता है, कि देश का सम्बन्ध वाह्य सवेदनो के स्थान मे उन्हे अनुभव करने वाले मन से ही है। क्योकि मै अपने मन मे अपने वाह्य अनुभवो से दूसरी प्रत्येक वस्तु का निष्कासन कर सकता हूँ, किन्तु देश का कभी नही।

(ग) देश के सभी विशेष नियम अवश्यम्भावी होते हैं। उदाहरणत: किसी वस्तु तक पहुंचने के लिए बीच की दूरी का पार करना आवश्यक होता है और यह असम्भव है कि कोई वस्तु कही भी न हो या वह समकालीन दो स्थानो पर विद्यमान हो इत्यादि। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जान सकता है कि इस प्रकार की नियतिओ के अवश्यम्भावी तथा अटल होने का विश्वास उस विश्वास से सम्पूर्णतया भिन्न है, जो किसी बाहरी

अनुभव के पुन करण से प्राप्त हो सकता है। क्योकि हम बाहरी अनुभव के विषय मे अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं, कि अब तक ऐसा ही होता चला आया है, किन्तु इसका अवश्यम्भावी या इसके विरुद्ध होना असम्भव है। कोई भी बाहरी अनुभव यह विश्वास नही दिला सकता। इसलिए देश की यह धारणा कि उसकी नियतिया सर्वदा अवश्यम्भावी तथा आवश्यक हैं, बाहरी अनुभव से प्राप्त होने के स्थान मे अपने अन्दर से उद्भूत होती है।

(घ) क्षेत्रतत्व अपने सभी सिद्धान्तो को सन्देहातीत बतलाता है, यही कारण है, कि इस विद्या मे एक काल्पनिक अनुमानो तथा मतभेदो के लिए कोई स्थान ही नही है। जैसे कि सभी परीक्षालब्ध विद्याओ मे प्राय देखा जाता है। इस से यह सिद्ध होता है, कि ज्योमित्री के सिद्धान्त बाहरी अनुभव से सीखे नही जा सकते। ज्योमित्री का विषय बाहरी अनुभव के साथ कोई सम्बन्ध ही नही रखता। ज्योमित्री का विषय देश है और यह विद्या देश के नियमो की खोज के लिए, बिन्दू, लकीरो, समतलो तथा शरीरों की कल्पना इसलिए करती है, कि इन मे देश के विशेष गुण या धर्म उसी प्रकार देखे जा सकते है, जिस प्रकार कि वह चरित्र जिसे कोई नट स्वरचित क्रियाओ द्वारा प्रकट करता है। अत देश का ज्ञान बाहरी अनुभव से पहले ही मन मे विद्यमान होता है।

(ङ) प्रत्येक बाहरी अनुभव जो किसी शरीर या रूप का जो आख के चित्रपट (Retina) पर होता है असख्य अशों से समाविष्ट होता है जो परस्पर कोई सम्वन्ध न रखते हुए,

केवल मेरे साथ ही सम्बद्ध होते हैं। इसलिए जो वस्तु इन गणनातीत तथा विभिन्न अशो को एक अनुभव मे बदलती है, वह तो मेरे भीतर ही विद्यमान होती है, मुझ से बाहर नही। और वह वस्तु जो सभी सवेदनो को, चाहे वह किसी भी इन्द्रिय से सम्बन्ध रखते हो, एक ही गठड़ी मे बाध कर बाह्य जगत के अनुभव को जन्म देती है, देश है और वह अवश्य ही मेरे भीतर विद्यमान है न कि मुझ से बाहर।

(च) देश का कही अन्त नही है। मैं निसन्देह जानता हूँ कि आकाश मे ब्रह्माण्डों से परे जहाँ दूरवीक्षण की दृष्टि भी नही पहुँचती और न ही कोई और अनुभव पहुँच सकता है, देश बराबर फैलता चला गया है। यह निश्चित ज्ञान कोई बाहरी अनुभव दे नही सकता। इस से स्पष्टतः यह स्थिर होता है, कि देश बाह्य ज्ञान का विषय नही, बल्कि इसके असीम होने का ज्ञान स्वय मन के भीतर ही विद्यमान है।

यह छः अकाट्य युक्तियाँ जो देश का मन से तथा उसीके भीतर होना सिद्ध करती है, काल तथा कार्य-कारण भाव पर भी ठीक उसी प्रकार लागू होती है। और सुधीर तथा कल्पना-क्षम पाठक इन्हे स्वय लागू कर के निस्सन्देह जान लेगा, कि देश, काल तथा वस्तु जिनके समुदाय का नाम ही जगत है, मन से ही उदय होते है, और इनके बिना किसी भी शक्ति, तत्व, भाव, अर्थ का प्रकाश असम्भव है। जब हम अपने विचारों को प्रवचन ग्रन्थ अथवा अपने गुप्त आनन्द को संगीत के रूप प्रकट करना चाहते है, तब देश, काल तथा वस्तु में ही ऐसा करना सम्भव होता है, अन्यथा नही।

विश्व जगत् अपना ही चमत्कार है

देश, काल तथा कारण-कार्य भाव को अपने आप से और अपने मे स्पष्टत· देखते ही यह तीन बडे भ्रम दूर हो जाते है—

(क) बाह्यता, साधारणत हम जगत् को अपने आप से बाहर तथा इसके इर्द गिर्द देखा करते है और इन्द्रिय-विषयों को अपने से निकट या दूर समझते है।

(ख) गुरुत्व, दूरवीक्षण दिखाती है कि आकाश मे असख्य सूर्य तथा ब्रह्माण्ड हैं, जिनके सामने हमारी पृथ्वी, बल्कि हमारा सूर्य भी ऐसा ही नगण्य है जैसे अनेक सागरो मे रेत का एक करण।

(ग) कठोरता, प्राय· हमे ऐसा प्रतीत होता है, कि यह जगत स्थूल तथा कठोर है। परन्तु अपने आप का यथार्थ बोध होते ही यह तीनो भ्रम उड जाते हैं। जैसे स्वप्न से जागते ही स्वप्न जगत के विषय मे यह तीनो भ्रम जाते रहते हैं, इसी प्रकार अपने स्वरूप मे जाग उठते ही जाग्रत जगत की बाह्यता, गुरुत्व तथा कठोरता के व्यापक भ्रम मिट कर सारा विश्व अपने मे तथा अपना ही रूप दिखाई देने लगता है। किन्तु केवल ऐन्द्रिक या केवल बौधिक ज्ञान से इन भ्रमो का नितान्त निराकरण नही हो पाता, हाँ, जब सहज-ज्ञान उदय हो जाता है, तब हम साक्षात देखते हैं, कि जानने वाले द्रष्टा तथा जाने हुए दृश्य मे अनन्यता तथा अभेदता का सम्बन्ध है, और इन के मध्य मे कोई गर्त व विच्छेद नही है, कि द्रष्टा दृश्य से बाहर उसका साक्षी हो। द्रष्टा तथा दृश्य दोनों एक ही है, इनमे कोई

व्यवधान नही है। द्रष्टा दृश्य मे अपने को ही अनुभव करता है। सत्ता मे दोनो की एकता है। जब तक द्रष्टा तथा दृश्य मे अनन्य भाव न जागे, द्वैत-भ्रम बना ही रहता है और अविद्या तथा उससे उत्पन्न होने वाले अस्मिता, राग, द्वेष, भय आदि क्लेशो का समूल विनाश नही होता। अज्ञान का आदि तथा अन्तिम रूप इनका भेद ही है। जड और चेतन विभिन्न सत्ताओ के नाम नही है। यह मौलिक भ्रम तब तक नही मिटता, जब तक कि अपने विशेष व्यक्तित्व को ही अपना आप समझा जाता है। अपना आप कुछ नही तथा सभी कुछ है।

संक्षेप में:—मैं सत्-चित्त-आनन्द-स्वरूप, अनन्त, अद्वैत, पूर्ण, निर्विकार, निराकार, निर्गुण, ज्ञान, सौन्दर्य, प्रेम, पवित्रता, शक्ति तथा जीवन का अटूट, अनन्त भण्डार हूँ। मेरे प्रकाश के अनेक केन्द्र हैं, जिनसे मेरी ज्ञान-रश्मि निर्गत होती रहती है और प्रत्येक रश्मि मे देश, काल, वस्तु इसी प्रकार पाए जाते हैं, जिस प्रकार कि प्रत्येक बीज के भीतर अनेक सम्भव बीज। मैं स्वयं कहीं नहीं, कभी नहीं और कोई विशेष वस्तु नहीं हूँ। क्योंकि मैं देश, काल, वस्तु से अतीत और उनका प्रभाव हूँ। मुझ तक इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा वाणी की गम नहीं है। मैं वस्तुतः द्रष्टा दृश्य के द्वन्द से भी ऊपर हूँ। मुझ दर्शन स्वरूप से और मुझ में ही द्रष्टा तथा दृश्य उदय तथा अस्त होते और मिलते हैं। सारा जगत मेरी अपनी विभूति तथा चमत्कार है। यह मुझ से और मुझ मे अस्तित्व रखता है, किन्तु मुझ से पृथक या मेरे मुकाबले में नहीं। जो कुछ भी है, मेरी सत्ता से ही सत्, मेरे भास से भासित, मेरी शोभा से शोभित, मेरे रस से रसीला तथा मेरी शक्ति से ही शक्तिमान तथा जीवित है;

बस, इस प्रश्न का उत्तर कि "यह क्या है?" यही है, कि यह मेरा अपना चमत्कार है, मेरा ही रूप है, और जल से तरंग, कनक से भूषण, आलोक से रङ्गों के समान मुझ से कोई पृथक सत्ता नहीं रखता। मेरा समस्त ज्ञान तथा अनुभव अपने आप का ही ज्ञान तथा अनुभव है। दुःख, संघर्ष तथा मृत्यु भी मेरे ही आनन्द, एकत्व तथा अमृत के ही झलकारे हैं। अपूर्णता भी मेरी पूर्णता और कदर्यता मेरे सौन्दर्य की प्रकाशक है।

चतुर्थ भाग

यह क्यों है ?

पिछले अध्याय मे की गई खोज के पश्चात सृष्टि तथा जिज्ञासु के मध्य मे यो प्रश्नोत्तर होता है :—

सृष्टि, मैं क्या हूँ ?

जिज्ञासु, मेरा अपना ही चमत्कार।

सृष्टि, तुम मुझ मे क्या देखते हो ?

जिज्ञासु, अपनी ही अनन्त विभूति तथा महिमा।

सृष्टि, मेरा निवास कहा है ?

जिज्ञासु, मेरे ही भीतर, मेरे ही अनुभव मे।

सृष्टि, मै क्यो हूं ?

जिज्ञासु यो विचार करना आरम्भ करता है :—

यदि यह कहूं कि यह अपने आप हो गई, तो इसका कोई अर्थ भी तो होना चाहिए। यह तो जड़ प्रतीत होती है, इस मे यह अद्भुत रचना तथा यह सुव्यवस्था कहाँ से आ गई ? यदि कहू कि यह ईश्वर रचित है, तो ईश्वर ने इसे क्यो और किस मसाले से रचा होगा ? अगर कहूं प्रकृति से, तो ईश्वर और प्रकृति का सम्बन्ध कैसे सम्भव हुआ ? यदि यह कह दूं, कि यह अनिर्वचनीय माया का जादू है, तो अज्ञात से ज्ञात की

व्याख्या करना अवैज्ञानिक है। केवल ज्ञात से ही अज्ञात की व्याख्या की जा सकती है।

विश्व समस्या के विषय मे 'क्या ?' के प्रश्न का तो समाधान हो चुका है, कि सृष्टि आत्म पसारा ही है, आत्मसत्ता, आत्मज्योति मे इतर न कोई सत्ता है, न ज्योति। देश, काल, वस्तु आत्मा से ही निर्गत होते हैं, तव आत्मा से भिन्न सृष्टि का कारण कहाँ से मिलेगा ? और यदि कोई ऐसा कारण कल्पना भी किया जाए, तो उसके विषय मे फिर 'क्या ?' और 'क्यो ?' के प्रश्न खड़े हो जाएँगे।

"मै हूँ" एक चरम सत्ता है, मेरे सम्बन्ध मे 'क्यो ?' का प्रश्न ही नही हो सकता, क्यो कि सभी प्रकार के प्रश्न मुझ से ही उठते और सिद्ध होते है। इस लिए मै तो स्वत. सिद्ध होने के कारण किसी भी प्रश्न का विषय नही हूं। सभी सङ्कल्प मुझ से उठा करते हैं और सङ्कल्प ही प्रश्नो को जन्म देता है। जब सङ्कल्प ही न हो तो कोई प्रश्न ही कहाँ। मैं हूँ, इसीलिए सोचता हूँ, मैं सोचने से नही हू, सोचना मुझ से है और मैं सोचने से ऊपर और इसका साक्षी हू। और जब सभी गुण मुझ निर्गुण से ही निस्सृत होते है तव तो 'क्यो' का उत्तर भी मुझे अपने मे ही ढूंढना होगा। सूर्य क्यों चमकता है ? फूल क्यों खिलता है ? चेहरा क्यो हँसता है ? शरीर क्यो वर्द्धित होता है ? कवि क्यो काव्य-रचना करता है ? केवल इसलिए कि चमकना, खिलना, हँसना, बढना तथा काव्य रचना यथाक्रम सूर्य, फूल, चेहरे, शरीर तथा कवि का अपना स्वभाव है। और बस स्वभाव को जानते और मानते ही फिर किसी बात

प्रेरणा, प्रयोजन व कारण का प्रश्न ही नही उठता ।

आत्मा सत् है, अर्थात् अनन्त शक्ति तथा सर्जन का उत्स है, चित् है अर्थात् अनन्त ज्ञान तथा ज्योति का भण्डार है, आनन्द है अर्थात् अथाह आनन्द का सागर है, प्रेम स्वरूप है, तब क्या यह स्वाभाविक गुण छिपे रह सकते हैं ? कभी नही, कभी नही । क्या बीज अनुकूल परिस्थिति मे उगे बिना रह सकता है ? आत्मा के लिए तो परिस्थिति का प्रश्न हो ही नही सकता, क्योकि आत्मा स्वय पूर्ण तथा अद्वैत, अबाह्य तथा अनन्तर है ।

हा, यदि आत्मा सत्मात्र, चित्मात्र या आनन्द मात्र ही होता, तब तो 'क्यो ?' का प्रश्न बन सकता था, किन्तु आत्मा तो केवल है ही नही, केवल साक्षिचेता ही नही, केवल रस मात्र ही नही है, वही तो अनन्त जीवन की अक्षय निधि है, इसलिए आत्मा से सहज ही जगत् विनिर्गत हो रहा है । *पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।*

जिज्ञासु (सृष्टि से) मेरा अपना स्वभाव ही है कि तेरे रूप मे अपना प्रकाश करूँ, तेरी छाया मे अपनी माया (शक्ति) को दिखलाऊ ।

सृष्टि (अपने आप मे जागे हुए जिज्ञासु के चरण चूमती हुई) धन्य हो मेरे प्रभु ! जय हो, मै तो आप की छाया मात्र हू । जब तक आप शयन कर रहे थे, मै अपने स्वामी को जगाने के लिए चुटकिया भर रही थी । अब तो आप जाग उठे हो, अपने होने, जानने, जीने को जान रहे हो । पहले आप मेरे से हो रहे थे, अब मै आप के आश्रय, तथा आप की दासी हूँ, आप के

होने से ही तो हू, आप का भास से भासती हू। आपके आनन्द से मुस्कराती और आपके दिव्य सौन्दर्य से प्राणि मात्र का दिल लुभाती हू। आपने ही मुझे असंख्य ब्रह्माण्डो की हीरक माला से सुसज्जित और सूर्य चन्द्र के भूषणो से भूषित कर रखा है। आप से अखूट धन पाकर मैं जीव-जगत के पालन के लिए शाश्वत लगर जारी किए हुए हू, और वस्तुत मैं तो हूँ ही नही, आप ही तो मेरे रूप मे दीप्तिमान हो रहे है, नमस्कार है आप को वारम्वार।

· १ ·

स्वप्रकाश आत्मा का धर्म

जब कि वट का क्षुद्र बीज विशाल वृक्ष के रूप मे शताब्दियो तक अपने गुप्त गुणो का प्रकाश किए बिना नही रह सकता बशर्ते कि परिस्थिति अनुकूल हो, तब आत्मा जो अनन्त जीवन तथा शक्ति का अक्षय उत्स है, कैसे अपना प्रकाश न करेगा ? बीज तथा आत्मा की स्थित मे अन्तर है तो उतना ही, कि जहा बीज को अनुकूल परिस्थित दरकार होती है, वहां आत्मा को नही, क्योकि आत्मा अद्वैत तथा पूर्ण है। और न ही सृष्टि के विषय मे कहाँ, कब तथा कैसे के प्रश्न उठाए जा सकते हैं, क्योकि देश-काल तथा कारण-कार्य आत्मा से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं रखते। जैसे प्रत्येक किरण से सूर्य

और प्रत्येक विन्दु से सागर के स्वभाव का पता चलता है, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपनी सत्ता के अध्ययन से भली प्रकार जान सकता है, कि प्रकाश आत्मा का स्वभाव ही है यथा.—

(क) वच्चा क्यो निठल्ला नही वैठ सकता ? क्यो कि उसके भीतर जीवन तथा शक्ति वाहर होने के लिए तड़पते है। निश्चेष्टता क्यो थकान लाती है ? हम वेगार को वेकारी की अपेक्षा क्यो अच्छा समझा करते हैं ?

(ख) अपनी शक्तियो के यथाविधि प्रयोग से प्रसन्नता होने के अतिरिक्त शक्ति की वृद्धि भी क्यो हुआ करती है ? हमे प्रगति तथा विकास के शब्द क्यो इतने भाते हैं ? और ह्रास या पतन क्यो हमे स्वीकार नही होते ?

(ग) पुनरोत्पादन एक प्रवल सहज वुद्धि है और उसमे आनन्द की झलक व्यर्थ नही है। सन्तान क्यो इतनी प्यारी लगती है ? क्यो कि इसके द्वारा जीवन अवस्थान करता हुआ पुनर्वार नूतन होता है।

(घ) ससार के महापुरुष क्यो इतने प्यारे लगते तथा सम्मानित होते हैं ? इसलिए कि उनमे उच्चतर आत्मविकास दिखाई देता है।

(ङ) ख्याति अथवा खुशामद क्यो अच्छे लगते हैं ? और वदनामी तथा निन्दा क्यो नही भाते ? इसलिए कि इन दोनो अवस्थाओ मे से एक मे आत्मा के आविर्भाव और दूसरी मे तिरोभाव का आभास मिलता है।

(च) स्वातंत्र्य क्यो प्यारा लगता है और वन्धन क्यो नही भाता ? इसलिए कि एक मे आत्म-प्रकाश का सुअवसर

मिलता है और दूसरे में नही ।

(छ) अकेलेपन से क्यो घबराहट होती है ? इसलिए कि दूसरो के सम्बन्ध मे आत्म-प्रकाश (अपने गुणो का प्रदर्शन) हो सकता है, अलग-थलग रह कर कभी नही । और वही लोग अकेले रह कर भी सन्तुष्ट रहते है जो समस्त विश्व मे अपना चमत्कार देखते है ।

आत्मा निष्क्रिय तथा निश्चेष्ट है, कुछ करता, रचता या बनाता नही ।

वह स्वभावत सृष्टि के रूप मे चमकता है ।

आत्मा सूर्य है तो सृष्टि आलोक है ।

आत्मा पुष्प है तो सृष्टि महक है ।

आत्मा आनन्द है तो सृष्टि मुसकराहट है । हिम तथा शीतलता, अग्नि तथा ऊष्णता, चीनी तथा माधुर्य, नीम तथा कटुता, चन्दन तथा सौरभ, आत्मा तथा जगत परस्पर अभिन्न हैं ।

: २ :

प्रकाश की दो शर्तें

(क) द्वन्द

यदि ससार में कही या कभी अन्धकार न होता तो उजाला होते हुए भी किसी को इसके होने का पता ही न

लगता। यदि पदार्थों मे पग पग पर बाधा व प्रतिरोध न पाया जाता, तो हमे अपनी शक्ति का अनुभव ही कैसे हो सकता था ? दोप, छुटाई, निचाई निकटता, ससीमता के मुकाबले मे ही तो यथाक्रम गुण, बडाई उच्चता, दूरी, असीमता का पता लग सकता है। प्रतिलोम्य व प्रतिकूलता द्वारा ही जड, चेतन, कदर्यता, सौन्दर्य, गति, स्थिति, अन्तर, बाहर का ज्ञान हो सकता है।

यदि ससार मे द्वन्द न पाया जाता तो न केवल आत्मा का प्रकाश असभव होता, बल्कि किसी प्रकार का विकास भी न हो पाता। द्वन्दात्मक सघर्ष से ही नया से नया विकास तथा उत्कर्ष होता है। सृष्टि के विकास का कारण उसके अपने भीतर ही विद्यमान है और वह द्वन्द है, और द्वन्द एकता का विरोधी होने के स्थान मे इसका द्योतक है। द्वन्द जीवन की स्नायु है, इसके बिना जीवन ही कहा है ? किन्तु यहा पर एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है, जिसका सन्तोप-प्रद उत्तर दिए बिना आत्म-दर्शन अपूर्ण ही रह जाता है। और वह यह कि जब आत्मा ज्ञानमय, अनन्त शक्ति, शिव, सुन्दर, प्राणमय तथा शुद्ध है, तब ससार मे अज्ञान, दुर्बलता, बुराई, कदर्यता, मृत्यु, अशुद्धि कहा से आ गए ? इसका उत्तर यही है, कि आत्मा के सहज स्वभावसिद्ध प्रकाश के लिए आवश्यक था कि देश काल मे विरोधी गुणो का आर्विभाव हो।

क्या गोरे चेहरे को चमकाने के लिए काले काले बालों, फूल की कोमलता के साथ कांटो, आलोक के प्रतिफलन के लिए स्वच्छता, नदी के वहाव के लिए किनारे, खुदा की शान चम-

कार्ने के लिए शैतान, राम के साथ रावण, युधिष्ठिर के साथ दुर्योधन, ब्रह्म के साथ माया, सूर्य चन्द्र के साथ उनके दागों की आवश्यकता नही होती ? सृष्टि मे यह सर्वथा व्यापक द्वन्द अपने भीतर अर्थपूर्ण ऐक्य का प्रकाश कर रहा है।

(ख) वैचित्र्य

द्वद द्वारा ही प्रकाश, विकास या उत्कर्ष होता है। किन्तु प्रकाश की गाढता तथा प्रचुरता के लिए भेद का होना भी आवश्यक है। अन्धकार से आलोक का अनुभव तो हो गया, किन्तु आलोक की सुन्दरता के लिए वर्ण भेद भी चाहिए। मौन के मुकाबले शब्द तो अवगत हो गया, किन्तु शब्द को मनोहर सगीत मे बदलने के लिए अनेक तथा विभिन्न स्वर आवश्यक होते है।

प्रकाश की प्रचुरता तथा सुन्दरता के लिए केवल नानत्व प्रर्याप्त नही, विभिन्नता का होना आवश्यक है।

यदि दिन के उजाले मे अनेक प्रकार के रंग, वृक्ष तथा शरीर मे अनेक प्रकार के अंग तथा क्रियाए, काव्य तथा प्रवचन मे नाना भाँति के शब्द न हों, तो सूर्य, वृक्ष, शरीर, काव्य तथा भाषण के भाव का पूर्ण प्रकाश न हो पाएगा। मानसिक जगत मे भी जब तक अनेक तथा विविध विचार, भावनाएं, इच्छाए, कल्पनाएं न हों, वहाँ ज्ञान समृद्ध ही नही होता। जिस समाज मे मतभेद की सम्भावना ही न हो, वह क्या उन्नति करेगा ?

किन्तु भेद तथा विच्छेद मे विवेचना करना आवश्यक है।

यह जगत एक अखण्ड समग्र है, इसमे भेद का तो अन्त नहीं है, किन्तु विच्छेद कही और कभी नही। भूत-भविष्य, निकट-दूर, अन्तर-बाहर, जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष, सजीव-अजीव, तथा जीवन-मृत्यु मे प्रत्यक्ष भेद तो है किन्तु विच्छेद कभी नही। प्रत्येक कण सर्व सत्ता के साथ अविश्लेष्य रूप से एक है। स्वरूपत हर एक सब मे और सब हर एक मे विद्यमान है। भूत मे भविष्य तथा भविष्य मे भूत पाया जाता है। कोई भी किसी से नितान्त वियुक्त नही है। विच्छेद एक अज्ञान-प्रसूत भ्रम है, किन्तु भेद मे अभेद तथा अभेद मे भेद को देखना सम्यक दर्शन है। केवल भेद ही देखना अन्धापन है, किन्तु केवल अभेद ही देखना भी कानो का काम है, सम्यक दर्शन नही। भेद रूप जगत मिथ्या भ्रम होने के स्थान मे ब्रह्म की विभूति, श्री, शोभा, तेज चमत्कार है। इसी भेद मे अभेद के दर्शन यथार्थ ब्रह्म ज्ञान है। भेद के विना अभेद भी व्यर्थ हो जाता है। जीवन की सफलता भेदाभेद के विज्ञान मे है।

नानत्व मे एकत्व तथा भेद मे ही अभेद देखने वाला मोह तथा शोक से ऊपर उठ कर जीवन मुक्ति लाभ करता है।

भेद मे अभेद दर्शन के प्रमुख सूत्र यह है —

सत्ता, प्रकाश मे कितना ही भेद क्यो न हो, सत्ता मे सब का ऐक्य है, यहाँ तक कि 'न होना' भी 'होने से' ही सिद्ध होता है, अर्थात् कोई है जो किसी विशेष पदार्थ या घटना के न होने को सिद्ध करता है। और सत्ता से इधर कुछ भी नही है। सत्ता समस्त पदार्थो के मध्य मे सर्वाधिक, अदम्य, सूक्ष्म, शुद्ध, अवर्णनीय, निर्दोष, अविभाज्य, व्यापक तथा सब के अन्त-

निहित सद है। पदार्थों मे गुणों का भेद तथा विरोध कितना ही क्यो न हो, उन सबमे सत्ता तो समान ही होती है। यह वही जल है, जिससे ससार रूपी तरग उठ रहे हैं। होने मे किसी का किसी से भेद नही है। सन्मय आत्मा (ब्रह्म) ही अनन्त रूप है।

(ख) ज्ञान, जिस प्रकार सारे रङ्ग रोशनी के ही विविध रूप होते है, इसी प्रकार जो कुछ भी हम किसी अवस्था मे अनुभव कर सकते है, वह अनुभव का ही एक प्रकार का रूप होता है, अन्यथा कभी नहीं। अस्ति की नास्ति भी एक सर्व-व्यापी सद है, जिसके बिना कुछ सिद्ध ही नही होता, यहाँ तक कि अज्ञान भी तो ज्ञान (किसी ज्ञाता) द्वारा ही सिद्ध होता है, ज्ञान वह प्रकाश है, जो विद्या तथा अविद्या दोनो को प्रकाशित करता है। सत्ता तथा ज्ञान एक ही परम सत्ता के दो अवियोजनीय विभाव है।

(ग) आनन्द, जब हम कहते है कि संसार में प्रत्येक वस्तु उपयोगी है और हर घटना मे कोई न कोई प्रकट या गुप्त भलाई होती है, तो उसका यह अर्थ होता है, कि सारा जग आनन्दमूर्ति है। दुःख भी आनन्दानुभूति द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। पत्थर के लिए दुःख कहाँ ? और दुःख भी आनन्द की ओर ले जाने तथा आनन्द को चमकाने के लिए है। प्रियता भी सत्ता तथा आनन्द के समान एक व्यापक सद है। सत्ता मात्र मे स्थिति ही सहज आनन्द देती है। इस अवस्था मे सत्ता, ज्ञान, आनन्द तीनों पाए जाते हैं।

(घ) सौन्दर्य, सौन्दर्य भी एक व्यापक तत्त्व है। विशाल

दृष्टि से कुरूपता भी सुन्दरता का न केवल एक रूप प्रतीत होती है, बल्कि सुन्दरता को चमकाती है। सब कुछ ही एक, अनन्त और सुन्दर है। कवि इसका साक्षात तथा सहज अनुभव करते है। जब एक वृक्ष या चेहरे के अगो को अलग देखे, तो कोई सुन्दर और कोई कुरूप प्रतीत होता है, किन्तु समष्टि रूप मे देखते ही सारा सुन्दर दीख पडता है। देखने वाले अन्धकार तथा मृत्यु मे भी सौन्दर्य देख पाते हैं।

(ङ) **नियम**, सृष्टि मे, समान देश काल मे एक ही प्रकार के अटल तथा व्यापक नियम पाए जाते है। नियम की समानता तथा अटलता सिद्ध करती है, कि पदार्थों का स्वभाव एक है। यह नियम पदार्थों तथा घटनाओ पर बाहर से लागू नही हुए, अपितु उनकी सत्ता मे ही अन्तर्निहित है। सृष्टि का नियन्ता इससे अन्य व बाहर नही है। यह स्वशासित है। देश तथा काल मे नियम की समानता के सहारे ही औद्योगिक प्रगति सम्भव हुई है।

(च) **उद्देश्य**, जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग तथा मशीन के अनेक प्रकार के पुर्जे एक ही सामान्य उद्देश्य के लिए काम करते हैं, इसी प्रकार सृष्टि-विकास भी एक उद्देश्य की ओर वढ रहा है। और जैसे वृक्ष के सारे अग उसका परिपक्व फल उत्पन्न करने के लिए सहयोगी होते है, वैसे ही समस्त पार्थिव शक्तिया, ज्ञात भाव या अज्ञात भाव से परिपक्व मनुष्य को उत्पन्न करने मे व्यस्त हैं। सुप्त प्रकृति मनुष्य के रूप मे जाग कर अनन्त पूर्णता की ओर वढना चाहती है। अब पृथ्वी पर मानव ड्रामा होने को है। यह नाटक मानव

मूल्यो की विजय तथा स्थापना के लिए होगा। जीवनोत्कर्ष अपनी गति-रेखा रखता है, नही तो पार्थिव जीवन नितान्त व्यर्थ होता।

ससार के भीतर देश मे भेद और वैचित्र्य का कोई अन्त नही है, किन्तु ज्ञानस्वरूप द्रष्टा मे सभी अनुभूत पदार्थो तथा घटनाओ का एकीकरण तथा केन्द्रीकरण हो जाता है। द्रष्टा एक है, द्रष्टा का कोई द्रष्टा हो नही सकता, नही तो वह द्रष्टा न हो कर दृश्य ही होगा। जीव अनेक है। और पच-इन्द्रियो के विषयो का द्रष्टा भी एक होता है, जो देखता है वही सुनता है, वही सू घता है और चखता है। इसी प्रकार अनेक तथा विविध जीवो मे एक ही परम द्रष्टा (आत्मा, ब्रह्म) सब का अपना आप है और उस मे सर्वभूत की एकता है। जितना भी भेद है, वह इन्द्रिय तथा अन्त करण के स्तर पर ही है, उनसे परे या ऊपर नही। निर्गु ण द्रष्टा मे सारा सगुण जगत एक अखण्ड तथा केन्द्रित है।

: ३ :

एकत्वानुभूति में कई अड़चनें

(क) ससीम तथा असीम

अवश्य ही यह प्रश्न उठा करता है, कि जब मूल सत्ता असीम है तो ससीम का जन्म कैसे हो गया ? ससीम की भ्रान्ति

मात्र कह देना, इसका कोई संतोषजनक समाधान नहीं है। ऐसा कहना तो समस्त जीवन तथा इसके अनुभव को व्यर्थ बनाता हुआ, जीवन से उदासीनता को जन्म देता है और फिर तो यही जी चाहता है, कि बस अपने आप मे मस्त हो कर जगत तथा जीवन की ओर से सदा के लिए सो ही रहे। किन्तु यदि जगत को मिथ्या भ्रम मान लेने के बजाए यह जान लिया जाए कि अनन्त देशकाल मे विश्व लीला आत्मा के प्रकाश के लिए है, तब कोई अडचन रह नही जाती। जब बीज अपनी सर्जन शक्ति को, या प्रवक्ता अपने भावो को या सगीतकार अपने आनन्द को बाहर करता है, तो अपने अन्तरधन को यथा-क्रम अपने अनेक भागो, शब्दो तथा वाक्यो और स्वरो द्वारा ही ऐसा करता है, अन्यथा प्रकाश हो ही कैसे सकता ? इसीलिए प्रकाश के लिए देश-काल की आवश्यकता हुआ करती है। इस प्रकार असीम का प्रकाश ससीम द्वारा ही सम्भव होता है। इस दृष्टि से ससीम तथा असीम के मध्य मे न केवल कोई विरोध नही रह जाता, अपितु असीम के प्रकाश के निमित्त ससीम का उदय होना अवश्यभावी ठहरता है। ससीम तथा असीम एक दूसरे के विरोधी होने के स्थान मे एक दूसरे को सार्थक बनाते है।

(ख) जड़ तथा चेतन

जड तथा चेतन का प्रत्यक्ष वैधर्म्य सर्वैक्य के बोध मे एक बड़ी अडचन है। और सॉख्य दर्शन तो यही फैसला करता है, कि जड (प्रकृति) तथा चेतन (पुरुष) एकान्त विभिन्न सत्ताए

है, जिनके मध्य मे ऐक्य असम्भव है। और इसीलिए वह कहता है, कि त्रिताप से मुक्त होने का यही साधन है, कि विवेक द्वारा अपने को प्रकृति से अलग जानते हुए योग द्वारा स्वरूप मे अवस्थान प्राप्त करो।

किन्तु आत्मैक्य एक ऐसा विशाल तथा गम्भीर सागर है, कि इसमे बडे से बडा भेद तथा द्वन्द भी डूब जाता है। निम्नलिखित कतिपय सकेत जिज्ञासु के लिए विचारणीय है।

(१) जड तथा चेतन दोनो ही परस्पर सम्बन्ध मे ही अपनी सत्ता तथा अर्थ रख सकते है। जड का अस्तित्व तथा अर्थ ही कहाँ जबकि इसे जानने वाला कोई न हो ? बिना साक्षी के साक्ष्य कहाँ होगा ? इसी प्रकार चेतन भी तो वही है, जो जड को जानता हो, जड़ नहो, तो चेतन का अस्तित्व क्या अर्थ रख सकता है ? अतः जड तथा चेतन एक दूसरे के सम्बन्ध मे ही अस्तित्व तथा अर्थ रख सकते हैं। एक दूसरे से पृथक हो कर वह कोई अस्तित्व तथा अर्थ रख ही नही सकते।

(२) यदि जड और चेतन मे स्वरूपत. विभिन्नता हो, तब इस अकाट्य तथ्य की व्याख्या कैसे हो सकेगी, कि चेतन जड़ को जानता है तथा जड चेतन से जाना जाता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं ? शरीर तथा मन के मध्य मे पारस्परिक प्रतिक्रिया का होना सिद्ध करता है, कि इनमे कोई गहरी एकता विद्यमान है। अन्यथा कोई व्याख्या सम्भव ही नही है। द्रष्टा तथा दृश्य वस्तुतः दर्शन या अनुभव के दो मेरु-सम्बन्धीय, केन्द्र सन्निहित विभाव मात्र

हैं। एक ही सत्ता के दो रूप हैं जिनमे से एक के न होने पर दूसरा भी नही रह जाता।

(३) जड तथा चेतन की एकता को अनुभव करने मे बडी रुकावट यह है, कि साधारणत इन्हे पृथक पृथक स्थानो मे कल्पना किया जाता है, यथा चेतन अन्दर है और जड़ बाहर या चेतन शरीर के किसी एक विशेष भाग मे रहता है, मस्तिष्क या हृदय या त्रिकुटि आदि मे। किन्तु ऐसी कल्पना मिथ्या है, जड तथा चेतन मे कभी कोई देशगत अन्तर नही हुआ करता। जैसे मन तथा उसके विचार एक दूसरे से बाहर तथा दूर नही होते, वैसे ही सभी पदार्थ तथा घटनाए मन या चेतना से कभी बाहर या दूर नही होती। जब हम सूर्य को देखते हैं, तब यथार्थत आँख के चित्रपट पर सूर्य के चित्र को ही देखा करते है। इसी प्रकार यह विशाल जगत चेतना या मन से बाहर नही, जल तथा तरङ्ग के समान सर्व दृश्य द्रष्टा का अपना रूप ही तो है और उससे अभिन्न भी है।

(४) हिप्नोटिजम तथा योग के अनुभव सिद्ध करते हैं, कि सकल्प ही प्रबल तथा प्रखर हो कर पदार्थों का रूप धारण कर लेता है। आतिवाहिक ही आधिभौतिक बन जाता है। स्वप्न मे हमारे सकल्प तथा सस्कार ही ठोस जगत वन कर आया करते हैं। सारा जगत वस्तुत मन का व्यक्तिक या अव्यक्तिक दृढ सकल्प ही तो है।

(५) अपने प्रकाश के लिए एक अद्वैत परम चेतन ही, जड तथा चेतन के रूप धारण किया करता है, अन्यथा आत्म-

प्रकाश असम्भव होता। दोनो एक ही अनुभव ज्योति के धनात्मक तथा ऋणात्मक रूप ही तो हैं।

(६) शीत, उष्ण, आलोक और अन्धकार के समान चेतन तथा जड़ मे केवल दर्जे का ही भेद है, श्रेणी का नही। कोई वस्तु भी नितान्त जड़ नही है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को सिद्ध कर रहा है।

(७) यदि मन तथा जगत एक दूसरे से विभिन्न सत्ता रखते, तब मन इस जगत का अध्ययन ही न कर सकता। किन्तु हम तो प्रकृति का इसी प्रकार पाठ कर सकते हैं, जैसे स्वलिखित पुस्तक का। इसीलिए तो सदा प्रगतिशील रहस्योद्घाटन सम्भव हो रहा है और इसी हेतु से ही तो प्रकृति के अध्ययन मे आनन्द मिलता है।

(ग) भाव तथा अभाव

विचारशील जिज्ञासु अवश्य ही यह प्रश्न उठाएगा, कि भला जड तथा चेतन की एकता मौलिक सत्ता तथा अनुभूति के भीतर तो समझ मे आ गई, भला 'है' और 'नही' की एकता क्योकर सम्भव होगी ? 'है' और 'नही' के बीच मे जो खाड़ी या प्रभेद है, आत्मज्ञान उस पर पुल कैसे तैयार कर सकेगा ?

किन्तु गभीर दृष्टि दिखलाती है, कि प्रत्येक पदार्थ का अनुभव उसके अपने इर्द गिर्द स्वय न होने (दूसरे पदार्थ न होने) मे ही लगता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का होना उसके न होने से घिरा हुआ है। और जब हम किसी पदार्थ व घटना के न होने का जिक्र करते है, तब 'न' के साथ 'होना' भी

कहना ही पडता है। इस तरह हर एक अभाव मे भाव तथा भाव मे अभाव निहित है, क्योकि अभाव की सिद्धि के लिए भी तो उसके ज्ञाता का भाव अवश्य स्वीकार करना ही पडता है। यदि अभाव कभी कोई अर्थ रख सकता है, तो किसी विशेष वस्तु के सम्बन्ध मे ही ऐसा होना सम्भव है, अन्यथा कभी नही। केवल अभाव तथा शुद्ध भाव मे कोई भेद नही है।

परम सत्ता आत्मा (ब्रह्म) भाव अभाव से ऊपर है, सद् असद् विलक्षण है। अभाव ही भाव का, जड ही चेतन का, जगत ही आत्मा का, दु:ख ही आनन्द का, रोग ही स्वास्थ का, कुरूप ही स्वरूप का, मृत्यु ही जीवन का अमूल्य दर्पण है। यदि ससार मे दु ख, व्याधि, बाधा और कदर्यता न पाए जाते, तो हमे आनन्द, आरोग्य, शक्ति, एव सौन्दर्य की खबर ही न होती। जिसे मृत्यु का अनुभव नही उसे अपने जीवन का भी पता नही लगता। बहुत क्या कहा जाए, ससार मे जितने भी द्वन्द देखे जाते है, उनका ज्ञान अपने विपरीत की अपेक्षा से ही हुआ करता है। नेकी बदी भी एक दूसरे को सम्भव तथा सार्थक बनाते हैं, बदी पर विजय पाने का नाम ही तो नेकी है, इन दोनो का अनुभव अपेक्षाकृत है, निर्पेक्ष कभी नही। ब्रह्म को भी सिद्ध करने के लिए माया की कल्पना करनी पडी थी। इसी प्रकार विशेष-समान, ऊँच-नीच, उन्नत-अवनत, स्थिति-गति एक दूसरे के सम्बन्ध मे ही कोई अर्थ रख सकते है। ज्ञान-अज्ञान, तथा मोक्ष और बन्ध भी इसी प्रकार से सापेक्ष है।

आत्मा में सभी कुछ केन्द्रस्थ है

जिस प्रकार वृत्त मे सभी व्यासार्ध मध्य विन्दु मे केन्द्रित हुआ करते है, इसी प्रकार जो कुछ भी किसी अवस्था में अनुभूत होता है, वह सर्वद्रष्टा, सर्वप्रत्यसाक्षी आत्मा मे केन्द्रित होने के कारण एक है। आत्मा सर्व द्वन्द का मिलन है। आत्मपद पर पहुँच कर कोई भी प्रतियोगिता रह नही जाती। दृश्य वर्ग को वाहर से देखे, तो भेद ही भेद दिखाई देता है और जव उन्हे द्रष्टा के सम्वन्ध मे देखा जाए, तो सभी दृश्यो मे द्रष्टा के सकल्प तथा सवेदन के अतिरिक्त और कुछ मिलता ही नही। समस्त जड-चेतन चेतना का ही रूप है और इसलिए स्वरूपत एक तथा एकस्थ है *(एकस्थं जगत् कृत्स्नम्)*। बौद्धिक दर्शन शास्त्र एकता को दृश्य जगत् मे या इसके पीछे ढूंढा करते है। उनकी एकता अनुमानित होती है, स्वतःसिद्ध अपरोक्ष कभी नही। केवल आत्मज्ञान ही एकता का साक्षात् दर्शन करवा सकता है। जो कुछ भी अनुभव मे आता या आ सकता है, वह आत्मा से तथा आत्मा मे स्थित है उसी रूप के तौर पर। जड़-चेतन, अन्तर-वाहर, कर्त्ता-कर्म, स्थावर-जगंम, सजीव-अजीव, स्थूल-सूक्ष्म, आलोक-अन्धकार, जाग्रत-स्वप्न, भाव-अभाव, एक-अनेक, छुटाई-बड़ाई, ऊँचाई-निचाई, सुख-दु:ख, ज्ञान-अज्ञान, सुन्दर-कुरूप, भूत-भविष्य, यहाँ-वहाँ, ससीम-असीम, मै-तू, यह-वह, अंग-समग्र, तथा समष्टि-व्यष्टि यह सारे द्वन्द्व सर्वसाक्षी द्रष्टा मे एक हो जाते है। और यदि वह स्वरू-

पत एक न होते तो उनके विरोध का भी ज्ञान न हो सकता।

सर्वगत तथा सर्वातीत आत्मा मे कोई भेद तथा द्वन्द नही है। यह तो आत्मा के प्रकाश मे इस प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार सूर्य के रङ्ग जो सूर्य मे नही पाए जाते। जहाँ तक मन वाणी की पहुँच हैं, वहाँ तक भेद तथा द्वन्द अवश्य पाए जाते है। बडी भूल जो होती चली आई है, यह है कि हम द्वन्द के एक पक्ष को ही अपनी रुचि अनुसार सत्य मान कर दूसरे पक्ष को झुठलाने लगते है। और यही कारण है कि हम *'एकम् सत्'* के ज्ञान से वञ्चित रह कर अनेक मतमतान्तरो मे फस कर बढ रहे है।

भला सर्व प्रकाशक *'ज्योति षा ज्योतिः'* आत्मा से बढ कर प्रकट है कौन ? किन्तु हमे और सब कुछ दिखाई देता है, आत्मा दिखाई नही पड़ता। जैसे सूर्य का तेज ही सूर्य के साक्षात् दर्शन नही होने देता, या झाग जल को, घास पृथ्वी को छिपा लेती है, वैसे ही आत्मा का प्रकाश हमारी दृष्टि मे आत्मा पर आवरण हो रहा है। इस प्रकाश मे सर्वत्र भेद तथा छन्द देख कर जिज्ञासु को आत्मैक्य मे सन्देह होने लगता है।

किन्तु, तनिक से विचार से पता लग जाता है कि समस्त भेद तथा द्वन्द सापेक्ष है, वह सभी भीतर से एक होते हैं। स्थिति-गति, जड-चेतन, शक्ति-बाधा, पुरुष-प्रकृति आपातत. परस्पर विरोधी होते हुए भी अन्दर से एक ही सत्ता के दो रूप हुआ करते है। फूल और काटा इतने विरोधी होने पर भी एक ही वृक्ष के सहकारी तथा अपरिहार्य अग ही होते है।

: ५ :

है और हो रहा है

सूर्य है, उजाला हो रहा है, रागी है, राग गाया जा रहा है, फूल है, प्रतिक्षण परिवर्त्तित हो रहा है, बीज है, वृक्ष हो रहा है, सागर है, नदिया बह रही है, आत्मा है, जगत हो रहा है।

उत्पत्ति, उजाला सूर्य से, राग रागी से, सौरभ पुष्प से, वृक्ष बीज से बराबर उत्पन्न हो रहे है, इसी प्रकार सृष्टि भी क्रमागत उत्पन्न हो रही है, यह केवल अतीत काल की रचना ही नहीं, अपितु प्रतिक्षण उत्पन्न हो रही है। जब हम चलते है तो छाया लगातार उत्पन्न हुआ करती है। दर्पण मे प्रतिफलन के समान आत्मा सृष्टि के रूप मे लगातार चमकता हुआ नए से नए रूप धारण कर रहा है।

स्थिति, उत्पत्ति के बराबर जारी रहने का नाम ही स्थिति है, स्थिति कोई स्थिर अवस्था नही है बल्कि क्षणिक है दीपशिखा के समान।

स्थिति जो वस्तुत. लगातार उत्पत्ति का दूसरा नाम है, तब तक ही बनी रहती है जब तक कि प्रकाशित होने वाला भण्डार खत्म नही हो जाता। तेल के खत्म होते ही दीपक बुझ जाता है। प्राणशक्ति के समाप्त होते ही शरीर मर कर गलने सड़ने लगता है यही हाल सभी सृष्ट पदार्थों तथा घटनाओं का है।

परन्तु आत्मा तो पूर्ण अर्थात् अनन्त गुणो का अक्षय भण्डार है, इसलिए विश्वरूप मे उसका अनन्तरूप प्रकाश न कभी आरम्भ हुआ है और न कभी खत्म होगा। आत्मा सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है, इसलिए जगत भी उसका नित्य प्रकाश है। ब्रह्म सत्य है तो जगत मिथ्या नही बल्कि आत्मा की अनन्त विभूति का चमत्कार है।

प्रलय, जब भण्डार समाप्त होने पर सृष्टि तथा स्थिति दोनो खत्म हो जाते हैं तो इसे लय अथवा प्रलय कहा जाता है। वस्तुत. उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय समकालीन क्रियाए है। सृष्टि प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई जलधारा के समान अतीत से आगामी की ओर बह रही है। जब तक रागी गाता रहता है, तब तक नये से नये स्वर उठते ही रहते हैं। जब तक वृक्ष जीवित है, पत्ते लगते और झडते ही रहते है इसी प्रकार आत्मा से जो *'सर्वस्य प्रभवः'* है, सागर मे बुद्बुदों के समान असख्य सृष्टिया उत्पन्न होती रहती है। यह सृष्टि पल पल मे जन्म लेती हुई भी कभी उत्पन्न नही हुई और पल पल मे मिटती हुई भी कभी मिट नही सकती। इसका जन्म तथा अव-सान सदैव अब है। यह काल मे नही, काल इसमे है। आत्मा अपरिच्छन्न है और जगत भी समग्र रूप मे अपरिच्छन्न ही है। ऐसा कोई देश अथवा काल हो नही सकता जिसमे जगत न हो। सृष्टि किसी देश या काल मे, या किसी कारण से नही हुई, क्योकि देश, काल, वस्तु जगत के अग होने से जगत मे हैं, जगत उनके भीतर नही।

: ६ :

सभी कुछ आत्मा से है

देश, काल, वस्तु की उत्पत्ति यथाक्रम अदेश, अकाल तथा अवस्तु से होती है। सभी गुण निर्गुण से और सभी आकार निराकार से उद्भूत होते है। वर्णहीन सूर्यालोक से ही सभी वर्ण, गन्धहीन वीज से ही महकते हुए फूलो का जन्म होता है, अण्डे के समजातिक लुआव से बहुरूपक पक्षी उत्पन्न हो जाता है। जीवनधारा सदा निर्गुण से सगुण की ओर वहा करती है। भौतिक विज्ञान की यही वड़ी भूल है कि वह वस्तु या शक्ति का उद्गम यथाक्रम वस्तु या शक्ति में ही ढूढा करता है। फूल का रहस्य कभी काटे या पत्ते में नहीं मिलता, वह तो केवल वीज मे ही पाया जाता है। राग के सुरो का भेद पिछले अगले स्वरों मे नहीं वल्कि रागी में ही मिल सकता है, कारण-कार्य की लड़ी के मध्य मे कभी नही। दर्पण मे प्रतिविम्व का भेद स्वयं दर्पण मे नही मिलेगा और न ही सृष्टि का रहस्य देश, काल, वस्तु मे किसी को मिला है और न कभी मिल सकेगा।

जिस हेतु से सारी सृष्टि आत्मा का प्रकाश है, सृष्टि नियम अटल हैं, प्रत्येक पदार्थ तथा घटना का दूसरे हर एक पदार्थ तथा घटना के साथ सम्बन्ध है, इसीलिए तो सृष्टि में एक परमाणु का दूसरे परमाणु पर, एक ग्रह का दूसरे ग्रह पर, एक मन का दूसरे मन पर प्रभाव पड़ सकता है, विभिन्न संवेदना परस्पर मिल कर पदार्थ वनाते है, विचार एकाग्र हो

सकते हैं और सारी सृष्टि एक प्रतीत होती है। आत्मा ही वह अमृत सेतु है जिसके सहारे शरीर एक बिन्दु से दूसरी बिन्दु तक गमन कर सकता है और विचार एक मन से दूसरे मन तक पहुँच सकते है। सर्वाधिष्ठान आत्मा की एकता के कारण ही हम पदार्थों का अनुभव करते हुए उनमे परिवर्तन ला सकते हैं।

प्रत्येक सीमित वृत्त सरल रेखा से विभिन्न होती है, किन्तु असीम वृत्त तथा सरल रेखा एक हो जाते है, इसी प्रकार सृष्टि के पदार्थ आत्मा से विभिन्न प्रतीत होते है, किन्तु यह ज्यो-ज्यो विकसित होते हैं, आत्मा के साथ इनका भेद भी घटता जाता है, और अपनी पूर्णता को लाभ करके वे आत्मा के साथ अभेद हो जाते हैं। सभी ससीम पदार्थों या प्राणियो को छोटे-बड़े ससीम वृत्तो और आत्मा को सरल रेखा से तुलना दी जा सकती है।

राग की उत्पत्ति का रहस्य रागो के स्थान मे केवल रागी मे मिल सकता है, जल से भरे हुए घटो मे अनेक चाद दिखाई देने का भेद पृथ्वी से ऊपर आकाश मे देखने से ही खुलता है और नाचती हुई पुतलियो के तमाशे का कारण इन्हे नचाने वाले बाजीगर मे ही पाया जाता है, इसी प्रकार सृष्टि का रहस्य स्वय देश, काल, वस्तुमय सृष्टि मे नही, बल्कि आत्मा मे ही मिल सकता है। किसी ग्रथ की रचना का भेद उस ग्रथ के स्थान मे ग्रन्थकार के मन तथा हृदय मे ही पाया जा सकता है। बुद्धि नियम तथा कारण कार्य से परे देखने मे असमर्थ है। सृष्टि रहस्य बुद्धिगम्य नही, बल्कि सहज अनुभूति द्वारा

ही मिल सकता है, अतः इसे पाने के लिए विज्ञान से आत्म-ज्ञान की ओर जाना होगा। आत्मज्ञान खोज का विषय नही यह तो प्राप्त की प्राप्ति है, प्रत्यभिज्ञा है। यहाँ दौड़ के स्थान मे जाग्रत होने की आवश्यकता है। विज्ञान सृष्टि रहस्य को देश, काल, वस्तु मे तलाश करता है, आत्मज्ञान इस भेद को अभी, यहा और अपने आप मे ही पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

: ७ :

जीव और ईश्वर क्या ?

जब तक आत्मज्ञान प्राप्त न हो, हम आस्तिक, नास्तिक झगडे मे ही फसे रहते है, आत्मज्ञान शक तथा यकीन दोनों से परे साक्षात् दर्शन है।

मनुष्यो मे जिज्ञासा का गुण पाया जाता है और जब वह जगत की परम अद्भुत रचना या व्यवस्था को देखता है, तो वह अपने नमूने पर अनुमान कर लेता है कि अवश्य ही कोई इसका निर्माता, नियन्ता तथा शासक है, अन्यथा जगत होने या होकर भी सुव्यवस्थित रहने न पाता। और सभी कुछ ही विशृंखल तथा व्यवस्थाहीन हो जाता। किन्तु यह एक बौद्धिक अनुमान ही है। और चूं कि अनुमानित विषय में सदा सन्देह हो सकता है क्योंकि वह अज्ञात होता है, इसलिए अनु-मानित वस्तु को जीवनाश्रय मान लेने से सदा उसकी पुष्टि

दरकार होती है। और इस विषय मे अनेक मत भी खडे हो सकते हैं, जिनका सुलझाव होने ही नही पाता।

आत्म-ज्ञान हमे इस झगडे और उलझन से पूर्णत मुक्त करता हुआ बतलाता है कि वास्तविक जीव तथा ईश्वर अनुमानित सत्ता होने के स्थान मे साक्षात् अनुभव सिद्ध तत्त्व है।

जैसे जीवित देह मे समग्र तथा अश का भेद होता है, वैसे ही जगत मे भी समष्टि तथा व्यष्टि पाए जाते हैं, और यह अनुमानित होने के स्थान मे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है।

सृष्टि तो रची या बनाई नही जाती, क्योकि यह मकान या मशीन के समान कोई कृत्रिम वस्तु तो है नही कि इसे बनाया जाय। यह तो आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश है, बीज से वृक्ष के समान। न ही इसका कोई वाह्य नियामक है। क्योकि पदार्थों के नियम उनके स्वभाव मे ही अन्तर्निहित है। कही बाहर से किसी ने बनाए या लागू तो नही किये है।

जीव तथा ईश्वर दोनो ही आत्मा के प्रकाश मे ही सत्ता रखते है, स्वय आत्मा मे नही। आत्मपद पर पहुँचते ही यह भेद दूर होता है और जल मे सागर तथा बिन्दु एक हो जाते है।

समष्टि का कारण शरीर ईश्वर, समष्टि का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ और समष्टि का स्थूल शरीर विराट् कहा जाता है और इसकी वास्तविकता मे न तो सदेह की सम्भावना है और न इसमे ईमान लाने की जरूरत है।

जीव इस समष्टि का एक वास्तविक अंश है। इसलिये जीव तथा ईश्वर कल्पित तत्त्व नही है। जीव अनेक हैं और

एक एक जीव मे अनेक जीव होते हैं जैसे कि जीवित शरीर मे असङ्ख्य जीवकोष्ट पाए जाते है।

अगुल तथा शरीर के समान जीव तथा ईश्वर का संबन्ध भी जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पत्ता वृक्ष के आश्रय ही नही होता, वल्कि वीज से सव कुछ पाता है। इसी प्रकार व्यष्टि तथा समष्टि में भी आदान प्रदान का होना आवश्यक है। समग्र तथा अश एक दूसरे के लिये ही है और जीने है। ईश्वर को छोड कर भला जीव के लिये स्वास्थ्य, जीवन, वल, ज्ञान, आनन्द तथा सर्जन शक्ति कहाँ ? और अश के विना समग्र का अर्थ ही क्या ? समग्र अपने अश मे विशेष रूप से प्रकाशित होता है और अश भी समग्र के साथ एक स्वर रह कर अपनी सफलता प्राप्त करता है।

किन्तु अपने से अलग, वाहर या अन्य ईश्वर की कल्पना करना मानसिक दासता, हीनता, दुर्वलता, दीनता तथा भय का मूल है। आत्मज्ञान वतलाता है कि जीवित अथवा चेतन सत्ता मे समग्र अपने प्रत्येक अश मे पूर्णत. विद्यमान होता है और जीव भी ऊपर से ही क्षुद्र तथा तुच्छ प्रतीत होता है, अपने स्वरूप में वह समग्र का उत्तराधिकारी है और इसी कारण से वह अनन्त उन्नतिशील तथा अपनी नव्यता में असीम तथा अनन्त है। अन्यथा वह सदा तुच्छ, ससीम ही रहता और अपने भीतर अनन्त प्रगति की उमग ही न पाता।

जीव तथा ईश्वर आत्मा में अभेद हैं, ईश्वर सेवा अपने ही समग्र की सेवा है और उसकी अनन्य भाव से पूजा आत्म-

पूजन ही होता है। इस ज्ञान से मनुष्य आत्मावलम्बी होकर अपने पावो पर खडा होकर सब मे आत्मदर्शन पाता हुआ सत्व के हित मे रत रहता है।

अतः ईश्वर साक्षात ज्ञान तथा पहचान का विषय है। कल्पना या अन्ध-विश्वास का विषय नही। जैसे शरीर के गुणो मे अगुल भी हिस्सेदार होती है, वैसे ही ईश्वर की बडाई वस्तुतः अपनी ही बडाई, और ईश्वर का ज्ञान आत्मज्ञान ही है। इस ज्ञान से द्वैत भाव दूर होकर भय तथा भ्रम का समूल नाश हो जाता है और शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है।

किन्तु ईश्वर को मनुष्य के सदृश एक व्यक्तिक सत्ता मानना एक भ्रान्त धारणा से इतर कुछ नही है।

: ८ .

क्या जगत मिथ्या है?

कई शताब्दियो से भारत मे जगत मिथ्या होने का प्रचार होता चला आता है और इस प्रचार का जो फल हुआ है, वह किसी से छिपा नही। जगत तो ज्यो का त्यो मौजूद है किन्तु इस सिद्धान्त के फलस्वरूप भारत तो मृतप्राय हो चला था।

किन्तु हम सम्यक विचार द्वारा स्थिर कर चुके है, कि जगत रज्जु मे सर्प के समान भ्रान्ति मात्र होने के स्थान मे आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश है। अरूप, अशब्द, अगन्ध, अरस,

अस्पर्श आत्मा ही अपनी अव्यक्त प्रकृति को व्यक्त करता हुआ अपनी अनन्त विभूति, महिमा, सौंदर्य, शक्ति तथा ज्ञान का परम आश्चर्य तथा अत्यन्त रहस्यमय नित्य प्रकाश कर रहा है। अत विश्वदर्शन साक्षात आत्मदर्शन ही तो है। आत्मा अपने अपार भण्डारो का साक्षी तथा प्रकाशक हो रहा है, किसी व्यर्थ तथा आकस्मिक भ्रम का नही।

जिस प्रकार सूर्य का आलोक ही अपने बहुवर्ण विकिरण से हमे कार्य का पता देता है, तथा जैसे बीज वृक्ष के रूप मे प्रकट होकर अपने स्वरूप का पता देता है और ग्रन्थकार ग्रथ लिख कर अपने गुप्त भावों को बाहर करता है, इसी प्रकार जगत भी अपने अनन्त तथा चिरनवीन रूपो मे अपने स्वरूप को प्रकट करता है। और जीव के पचकोश भी आत्मा को तिरोहित करने के स्थान मे आत्मविभूति तथा आत्मप्रकाश के ही साधन है। जगत असत् नही, प्रत्युत् सत् का प्रकाश है और इस प्रकाश को भुठलाने से बढ कर कौन-सा झूठ तथा नास्तिक्य हो सकता है! यह विश्व आत्मदर्शन का अमूल्य दर्पण है।

जगत लगातार परिवर्तित हो रहा है, इसलिये नही कि यह असत् या मिथ्या है, अपितु, इसलिये कि किसी विशेष रूप मे आत्मा का प्रकाश समा नही सकता। रागी को अपने आनन्द के प्रकाश के लिए लगातार स्वर बदलने पडते है और प्रवक्ता को भी अपने भाव प्रकट करने के लिये नये से नये तथा विभिन्न शब्दो का प्रयोग करना पडता है। अतः विश्व का निरन्तर परिवर्त्तन आत्मा की अनन्त महिमा का द्योतक है। आत्मा (ब्रह्म) सत् है इसीलिये यह जगत जीवन से स्पन्दित

हो रहा है, चित् है, इसीलिये प्रत्येक परमाणु मे ज्ञान का अथाह सागर उछल रहा है, आनन्द है, इसीलिये जगत अति सुन्दर है। अनन्त शक्ति है, इसीलिये ससार मे सभी कुछ गतिशील है, प्रेममय है, इसीलिये सब पदार्थ सबकी भलाई मे लग रहे है, अमृत है इसीलिये जगत क्षणिक होता हुआ भी कभी मरता या मिटता नही है।

हाँ, आत्मा से अलग होकर यह जगत मिथ्या है, राग शरीर से, प्रतिबिम्ब बिम्ब से या छाया पदार्थ से विच्छिन्न हो कर भला कैसे रह सकते है ? **जगत मिथ्या है आत्मा से विच्छिन्न होकर, सत्य है आत्म प्रकाश के रूप मे।**

यथार्थ आत्मज्ञान वैराग्य नही, अनुराग, उदासीनता नही, प्रभुत्व, समर्पण नही, सर्जन, सकोच नही, विस्तार, निराशा नही, आशा तथा दीनता हीनता नही स्वावलम्बन तथा आत्म-सम्मान के भाव जगाता हुआ भय, भ्रम का उन्मूलन करता है।

किन्तु आत्मज्ञान जहाँ जगत के लिए आदर का भाव उद्रेक करता है, वहाँ यह भी बतलाता है कि समस्त जगत् आत्मा की अनन्त विभूति के सामने ऐसा ही नगण्य है जैसे कि सूर्य के समक्ष उसकी एक किरण। और मनुष्य जगत को मूल्य देता है, जगत मनुष्य को नही। जगत हमारे लिए है, हम जगत के लिए नही, यह हमारा दर्पण है, हम इसके यन्त्र नही हैं। हम इसके भिखारी नही, बल्कि इसे उत्तरोत्तर आनन्द तथा सौदर्य प्रदान करने के लिये जीते है। यह तो आत्मप्रकाश के लिये कच्चा माल ही है।

आत्मा में जगत् अनन्य रूप है, आत्मा ही इस प्रकार हो

कर भासता है, यह आत्मा के चमत्कार के सिवा कुछ नहीं है, आत्मतत्व ही सारे दृश्य जगत का सार है।

आत्म-ज्ञान होते ही यह जगत हमारे सिर पर बोझ नही रहता, इसकी कठोरता तथा गुरुता दूर हो जाती है और तब यह सौरभ या अपने संकल्प के समान हलका प्रतीत होने लगता है, तब हम इसे प्रभावित करते हैं, स्वयं इससे प्रभावित नही होते।

आत्मजागरण का आनन्द

अहा! अब मैं अपने आप मे जाग उठा हूं, अब तक मै अपने को एक क्षुद्र तथा नाशवान शरीर माने हुये था। स्वय सूर्य होकर अपने को एक कण, स्वयं भूमा हो कर अपने को अल्प, स्वय अमृत होकर अपने को मर्त्य, स्वयं अनन्त शक्ति होता हुआ अपने को दीन, स्वय *'प्रभवोत्सवैरव'* होने पर भी अपने को हीन भिखारी मान रहा था, अब मैं अपने अपार ऐश्वर्य को जान कर पूर्ण काम हो गया हू।

मै तो सर्वाधिष्ठान, सर्व-सत्ता की सत्ता हू, मुझ अनन्त सागर में विश्व जगत एक बुदबुदा सा है, मै ही तो विश्व प्राण हू। मेरी अटल इच्छा ही प्राकृतिक नियमों का रूप धारण किये हुये है। मेरी अपराजेय शक्ति से ही सारा विश्व कम्पित

हो रहा है।

मैं ही तो सर्वभासक अनुभव ज्योति हू, आलोक तथा अन्धकार, ज्ञान तथा अज्ञान, भाव तथा अभाव, जीवन तथा मृत्यु मुझ से ही सिद्ध होते हैं, मुझ से और मुझ मे ही असख्य सूर्य चन्द्र उदय और अस्त होते हैं, नाना प्रकार की विद्याएं मेरी किरणो के समान हैं, मै ही सब प्रमाणों का प्रमाण हूं। मेरी अलुप्त ज्योति से ही सभी कुछ सिद्ध होता है, मै स्वप्रकाश तथा स्वत सिद्ध हू, अपने अव्यक्तिक रूप मे मै ही एकमात्र सम्राट हू, आकाश मेरा आसन, पृथ्वी मेरा फर्श, समुद्र मेरा भिश्ती, वायु मेरा पखा, कुली सूर्य चन्द्र मेरे दिये और सृष्टि-नियम मेरी नियमावली है। यह जगत इतना महान होकर भी न तो अपने को जानता है न किसी और को ही। मै रूप मे अत्यन्त क्षुद्र होकर भी स्वरूपतः अपने तथा जगत को जानता समझता हुआ इसका पुनर्निमाण करने के लिये जीता हूं। यह जगत मुझ से तथा मुझ मे है, मैं इसमे नही हूं। मै हू किन्तु जगत मेरा ही प्रकाश मात्र है, मेरे समक्ष मे यह कभी हुआ ही नही।

मै विश्वपति हूँ, सर्वशक्ति मेरी ही शक्ति है, मेरा कोई प्रभु नही है। मै सर्व सौन्दर्य का आत्मा हूँ और जगत मे अपना सौन्दर्य ही देखता हू। पण्डित हिमालय जी मुझ से ही सजाये गये है, उन्हे सफेद टोपी मुझ से ही मिली है, आकाश की अनन्त झोली मैंने ही असख्य मोतियो से भर रखी है।

मै सब कुछ देखता सुनता हू, मुझे कोई देख सुन नही सकता, मैं सर्वद्रष्टा हू, मुझे कोई विषय रूप से जान सकता

ही नही, मै सव मे व्यापक हूं, किन्तु किसी से व्याप्त नहीं हूं। मेरा सव पर अधिकार है, किन्तु मै किसी से अधिकृत नही हू। मै ही विश्व जगत का केन्द्र हूं, मै ही पराकाष्टा, परम-आनन्द हू।

मै प्रेममय वह सूत्र हू जिसमे यह सभी कुछ पिरोया हुआ है। मुझ मे सव एक है, सवका मिलन है, चक्षु-सूर्य, उदर-पृथ्वी, फुप्फस-वायु, देह तथा उसका प्रतिवेश मुझ मे ही एक दूसरे मे मिलते हैं। मै ही गुरुत्वाकर्षण के रूप मे असख्य ब्रह्माण्डो को परस्पर बॉधे हुए हू।

मै हू, इसीलिये तो मानव हृदय मे ज्ञान, भलाई, सौन्दर्य, शक्ति, अमृत, उत्कर्ष, प्रगति, आनन्द के लिये अमिट क्षुधा पिपासा पाई जाती है। मै हू, इसीलिये किसी को अविद्या, वन्धन, दु ख, दासता, व्याधि, अशान्ति, मृत्यु अभीष्ट नही है। मै हू, इसीलिये समग्र विश्व तथा उसके प्रत्येक अग मे विकास के लिये तडप पाई जाती है। मै पूर्ण तथा अनन्त हू, इसीलिये तो जगत मे निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, किसी एक रूप, घटना या अवस्था मे मेरी पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव ही नही है। विश्वव्यापी, वैचित्र्य मेरे ही सौन्दर्य के चिर-नवीन प्रकाश के लिये है।

मै निर्द्वन्द्व हूं, किन्तु सभी द्वन्द्व मुझ समरस मे उदय होकर विकास तथा प्रगति के हेतु वनते है और इनका संघर्ष ही तो विकास को जारी रखता है। मुझ मे सर्व द्वन्द्वो का समन्वय हो जाता है। मुझ सर्व तथा समग्र मे सव एक है।

मै देश, काल, वस्तु से अतीत हूं। मै हू किन्तु कही, कभी

तथा कुछ नही हूं। चाहे मै अपनी सत्ता से इन्कार करू और चाहे इकरार, मै ही तो इन्कार तथा इकरार को सिद्ध करता हू और मृत्यु, तथा अभाव भी मुझ से ही सिद्ध होते है।

मेरे लिए यहाँ और वहाँ, भूत तथा भविष्य एक हैं। मैं न यह हू न वह, न मै हू न तू, न सत् हू न असत्, न सजीव हू न निर्जीव, न जड हू न चेतन, यह सब के सब मुझ अनन्त रूप के ही रूप हैं। मुझ से बढ कर कोई भी गुप्त या प्रकट नही है।

मेरा न कोई अन्तर है न बाहर, किन्तु मैं ही सब के अन्तर और बाहर हूँ। मैं अनन्य स्वरूप हू, सर्वत्र, सदा, सब मे अपने को ही अनुभव करता हूँ। मैं ही एक तथा सर्व हू। मैं ही दिशा रहित हर तरफ, देशरहित सर्वत्र, काल रहित सदा, रूप रहित तथा सर्वरूप हूँ।

मैं वसन्त हूँ, जगत उद्यान है, मै आनन्द हूँ, जगत हास्य है, मै शक्ति हूँ तो यह गति, मै प्राण हूँ तो यह शरीर, मै कल्पना, यह उद्भावन, मै चित्रकार, यह चित्र, मै कवि, यह कविता, मै रागी यह राग है। मै हूँ और मुझ से और मुझ मे यह सृष्टि क्रमश उत्पन्न हो रही है।

· १० ·

जगत मुझ में है, मैं जगत के अन्दर नहीं

दृष्टि चक्षु द्वारा देखती हुई भी स्वय चक्षु से घिरी हुई नही होती। वह दृष्ट पदार्थो को अनुभव करती है, किन्तु उनमे से

किसी के भीतर बन्द नही होती, श्रवणेन्द्रिय भी न तो अपने गोलक (कान) मे रुद्ध होती है और न किसी श्रुत पदार्थ या पदार्थों मे बन्द हो सकती है। यही हाल समस्त इन्द्रियों का है। सारा जगत इन्द्रियो मे है, इन्द्रिय अपने विषय जगत मे नही है। हाँ इन्द्रियो के गोलक जगत मे है जो इन्द्रिय द्वारा अनुभूत होते है। इन्द्रिय जगत को जानते है, जगत उन्हे नही जान सकता। अपने विषयों के भाव अभाव मे इन्द्रिय तो ज्यों के त्यों ही रहते हैं।

मन इन्द्रियो से भी बडा है अर्थात् इन्द्रिय मन मे हैं मन इन्द्रियो मे नही है। इन्द्रिय एक दूसरे को नही जानते किन्तु मन इन्हे तथा इनकी क्रियाओ को जानता है। किसी पदार्थ या जगत के एक या समग्र होने का ज्ञान मन द्वारा हुआ करता है। इन्द्रिय तो एक-एक पहलू को ही अनुभव कर सकते है। यथा आँख केवल वृक्ष का रूप रग ही देखती है, रसना केवल उसका रस ही चख सकती है। घ्राण को केवल इसके गन्ध का अनुभव ही होता है। इन विभिन्न अनुभूतियो को मिला कर एक वृक्ष का ज्ञान केवल मन द्वारा सम्भव है। मन ही हमे जगत की एकता तथा समग्रता का ज्ञान देता है। मन के विना हम यह जान ही न पाते कि विश्व (एक) है। अत. विश्व जगत मन मे है, मन जगत के अन्दर नही है। हाँ, मस्तिष्क जो अन्त.करण का यन्त्र है, जगत में है। जगत एक देशगत सत्ता है, किन्तु मन अदेश सत्ता है। मन मे देश है, देश में मन नही है।

इसी प्रकार अन्त:करण को देखो। मन, चित्त, बुद्धि तथा

अहकार एक दूसरे को जानते ही नही, किन्तु शुद्ध सर्वसाक्षी आत्मा से जाने जाते है, आत्मा इनके भाव को भी जानता है और इनके अभाव को भी। यह परिवर्तनशील तथा परस्पर व्यभिचारी है किन्तु आत्मा मे इन सबकी एकता है।

मैं अपने अन्त करण मे व्यापक तथा इस से ऊपर हूँ और किसी से भी व्याप्त नही हूँ। ससार में अनेक जीव हैं, प्रत्येक जीव अपना व्यक्तिगत अन्त करण, इन्द्रिय तथा विश्वानुभूति रखता है। हरएक का देश काल अपना अपना है, किन्तु आत्मा (ब्रह्म) मे सर्व जीवो का ऐक्य है, आत्मा ही अमृत सेतु है जिसके द्वारा इनका आपस मे तथा जगत के साथ व्यवहार सम्भव होता है। आत्मा मे सभी का मिलन और सबका सब के साथ सम्बन्ध है।

पंचम भाग

जीवन अर्थ

जीवन-अर्थ

प्रचलित मायावाद में जीवन-अर्थ के प्रश्न के लिए कोई स्थान ही नही है क्योकि वह कहता है :—

जगत मिथ्या है, रस्सी मे सर्पभ्रम की भान्ति प्रतीत मात्र है, वस्तुतः कभी हुआ ही नही और जीवन भी एक अविद्या-जनित स्वप्न ही तो है। व्यक्तित्व कोई मूल्य नही रखता। होना तथा जीना भी भ्रान्ति मात्र है।

मायावाद लय का सन्देश देता है, विकास का नही, केवल शान्ति का ही उपदेश करता है, प्रगति का नही, सकोच तथा विच्छिन्नता सिखलाता है, सहचर्य नही, स्वातन्त्र्य पर बल देता है, दायित्व पर नही, विश्व की ओर से सुलाता है, प्रकृति पर विजय तथा इसके रूपान्तरीकरण की शिक्षा नही देता, जीवन समस्या की गाँठ को कतरना तो जानता है इसे खोलता नही।

किन्तु धोखे का धोखा जानने वाला स्वय धोखा नही हो सकता। छाया या स्वप्न का ज्ञाता स्वय छाया या स्वप्न नही होता। अभाव का साक्षी स्वय तो भावरूप ही होता है। जीवन को व्यर्थ कहना ही सिद्ध करता है कि जीवन अवश्य ही कोई न कोई अर्थ रखता है और अपने रूप मे कितना ही क्षुद्र क्यो

न हों, यह अवश्य ही अर्थपूर्ण है, अन्यथा हमे व्यर्थता का ख्याल ही न आ सकता।

यह जगत मिथ्या नही, आत्म विभूति है, सच्चिदानन्द आत्मा का परम रहस्यमय प्रकाश है। यदि आलोक एक भ्रम हो तो सूर्य भी एक भ्रम ही ठहरेगा। ब्रह्म सत् और जगत असत्, इससे बडा भ्रम और क्या होगा? यदि जगत स्वयं सत् नही तो सत् का प्रकाश अवश्य है, ब्रह्म चित है तो जगत उसका चमत्कार है। जगत का क्षणिक तथा परिवर्तनशील होना ब्रह्म की अनन्त पूर्णता का द्योतक है। जगत को मिथ्या मानना आत्महत्या की ओर ले जाता है।

जगत मे जन्म ले कर इसे मिथ्या कहना ऐसी ही बात है जैसे कोई बच्चा अपनी माता से जन्म लेकर उसे झुठलाने लगे। श्रुति का उपदेश तो यह है कि *"सर्वभूत आनन्द से उत्पन्न हो कर आनन्द के सहारे जीते हुए आनन्द की ओर ही लौटते हैं"* हाँ, यदि कोई धोखा है तो यह है कि जगत को आत्मा से अलग या विविध पदार्थों या जीवों का समुदाय मात्र माना जाए।

आत्मा के होने से जगत भी है और आत्मा की अनन्त शक्ति से ही पल पल मे बदल रहा है। आत्मा प्राणस्वरूप है, इसीलिए जीवन विकसित होता चला जा रहा है। आत्मा आनन्दघन है, इसीलिए फूल मुस्करा और पक्षी गा रहे हैं। हाँ, आत्मा से कट कर जगत की कोई सत्ता, जीवन या शोभा नही है।

प्रकृत आत्मज्ञान द्वैत भ्रम को मिटाता हुआ भेद मे अभेद का दर्शन कराता और बतलाता है कि आत्मा से अलग यह

जगत कोई सत्ता ही नही रखता। द्रष्टा ही दृश्य रूप हो रहा है और तत्व ज्ञानी सर्वत्र सर्वदा अपने आप का ही अनुभव करता है।

१

क्या जगत स्वप्न मात्र है?

हमारे देश मे शताब्दियो से यह प्रचार हो रहा है कि जगत एक दीर्घकालीन स्वप्न ही है जबकि हमारे व्यक्तिक स्वप्न अल्पकालीन हुआ करते हैं।

यदि यह बात ठीक हो, तब तो स्वप्न को समाप्त करके जागना ही अच्छा होगा। जीवन को सुधारने या सार्थक बनाने की आवश्यकता क्या ?

व्यक्तिक स्वप्न के विषय मे तो यह कहा जा सकता है कि वह जाग्रत अवस्था के सस्कारो से उत्पन्न होता है, किन्तु जगत रूपी स्वप्न किन सस्कारो का फल होगा ? यदि कहो, यह जगत अविद्या से हो गया तो केवल अविद्या तो सस्कारो के बिना इसे उत्पन्न नही कर सकती और यदि कहो पिछले जन्मो के सस्कारो से, तो वह सस्कार कहाँ से आ गए ?

अत. जगत को स्वप्न मात्र कहना बडी भूल की वात है। हाँ, जगत को स्वप्नवत कहने मे यह सच्चाई है कि जैसे स्वप्न अपने मन से ही उदय होता हुआ हमारे अपने गुप्त या प्रकट

भावों, विचारों तथा वासनाओं से ही उत्पन्न होता है, वैसे ही यह जाग्रत जगत भी हमारे अपने ही अव्यक्तिक अपने आप (आत्मा) तथा अपने ही अवचेतन या अचेतन मन से उत्पन्न हुआ है। द्रष्टा तथा दृश्य दो विभिन्न सत्ताए होने के स्थान मे आत्मसत्ता के ही दो अवियोज्य पक्ष हैं। चेतना तथा शक्ति, मन तथा प्रकृति एक ही परमतत्त्व के दो रूप है। दृश्य मे द्रष्टा अपने को ही अनुभव करता है। और इसीलिए वह दृश्य को जान और बदल सकता है। समस्त जगत आत्मविभूति के सिवा कुछ नही है। जगत को एक व्यर्थ भ्रम कहने से आत्मा भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

और स्वप्न मे देश, काल, कारण-कार्य कही बाहर से आने के स्थान मे अपने मन से ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार यह अनादि, अनन्त, परम अद्भुत जगत भी निज आत्मा से ही उदय होने से आत्म प्रकाश से इतर कुछ नही है, अतएव हमारा काम जगत को झुठलाने या भुलाने के स्थान मे इस आत्म-प्रकाश को उत्तरोत्तर अच्छा और सुन्दर बनाने में है।

भला वृक्ष के बिना बीज तथा जगत के बिना आत्मा का स्वरूप ज्ञान ही कैसे सम्भव है? और जगत से अलग आत्म-प्रकाश का अर्थ ही क्या है?

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

इदम् के रूप में ही तो आत्म-ज्योति प्रतिफलित हुआ करती है। भास्य के बिना भासक का अर्थ ही क्या होगा?

: २ .

समान तथा विशेष

हम देख चुके है कि आत्मा एक है, जीव अनेक है जो आत्मप्रकाश के विविध केन्द्र हैं और आत्मप्रकाश भी एक तथा अखण्ड है, वैचित्र्य तथा छन्द बाह्य है, भीतरी नही। स्वरूप मे सभी एक है। परन्तु यह अविभाज्य आत्मप्रकाश, समान तथा विशेष, दो रूप धारण करता है।

जीवन्त शरीर मे जीवन समान होता है, किन्तु वह विशेष अंग उपाग रखता है, इसी प्रकार वृक्ष मे रस समान होता है, परन्तु उसमे विशेष पत्ते, फूल, फल लगते हैं। इसी प्रकार एक ही विश्वव्यापी जीवन अपने को समान तथा विशेष रूपो मे व्यक्त कर रहा हैं। समस्त जगत इसका समान रूप है और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, सागर इसके विशेष रूप है। समग्र ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनेक अशो मे प्रकट होता है, समान ही विशेष का रूप धारण कर लेता है। किन्तु जीवन तत्व का यह एक आश्चर्यजनक नियम है कि जीवन्त समग्र अपने प्रत्येक अंश मे भी सम्पूर्णत: विद्यमान रहा करता है। और अश भी स्वरूपत. समग्र ही होता है। जीवन-जगत मे समष्टि व्यष्टि मे तथा अखण्ड रूप मे पाई जाती है और व्यष्टि समष्टि के बरावर, अपितु उससे भी बड़ी हो सकती है। एक व्यक्ति समस्त मानव जाति से आगे बढ सकता है। अश केवल रूप मे ही अश होता है, स्वरूपत कभी नही। अन्यथा निरन्तर तथा अनन्त प्रगति असम्भव होती। वस्तुत: असीम ससीम के भीतर ही विद्यमान

होता है, उससे बाहर या परे नही । समान तथा विशेष, समग्र तथा अंग एक दूसरे के सम्बन्ध मे ही सत्ता या कोई अर्थ रख सकते है। शरीर से अलग अंगुल या वृक्ष से पृथक पत्र की सत्ता तथा अर्थ ही कहाँ होंगे ? किसी भी वाक्य का अर्थ शब्दो के सम्बन्ध मे ही पाया जाता है, इस प्रकार मानव-जीवन का अर्थ जानने के लिए हमे यह देखना होगा कि वह अपने समग्र विश्वजगत के साथ क्या सम्बन्ध रखता है।

: ३ :

जीवन के दो पक्ष

मानव जीवन भी दो पक्ष रखता है, (१) समान और (२) विशेष । समान पक्ष पर मनुष्य विश्व जगत के साथ एक ही नहीं, अपितु उसी प्रकार स्वय जगत है जिस प्रकार शरीर का कोई अग स्वयं समस्त शरीर या वृक्ष का एक पत्ता स्वयं वृक्ष होता है। विश्व जगत ही *"पिण्डम् एकम् अखण्डतम्"* है। कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु तथा कोई भी घटना किसी घटना से पृथक या स्वतन्त्र नही है। मानव विशेष रूप मे एक मनुष्य है, पशु या और कोई जन्तु नही, एक व्यक्ति है जो अन्य व्यक्तियो से भिन्न है। समान पक्ष पर वह बड़े से बड़ा है, विशेष पक्ष पर वह अत्यन्त क्षुद्र है। वास्तव में न वह किसी से बड़ा है न किसी से छोटा है, वह तो सर्व आप ही है।

मनुष्य की एक विशेषता यह है कि इसका प्रतिवेश सीमाहीन है जबकि और सभी प्राणी सीमाबद्ध प्रतिवेश रखते है। इसका कारण इसकी धुन्धली या उज्वल सर्वात्मैक्य अनुभूति है और इसीलिए इसे एक आध्यात्मिक जन्तु माना जाता है और ठीक जिस प्रकार पके हुए फल के भीतर उसे जन्म देने वाले वृक्ष की समस्त शक्यता विद्यमान होती है, उसी प्रकार मनुष्य रूपी पिण्ड मे सारे ब्रह्माण्ड की शक्यता मौजूद है। वस्तुत. मानव अपने रूप मे तो एक इत्तरव्यावर्त्तक अश है, किन्तु अपने स्वरूप मे वह विश्व ब्रह्माण्ड के तुल्य ही नही, अपितु इससे अनन्त गुना बड़ा है। मानव शरीर रूपी मन्दिर मे स्वयं निर्गुण ब्रह्म ही विराजमान हो रहे हैं जबकि अन्य पदार्थो तथा जन्तुओ मे केवल गुणो का प्रकाश हो रहा है। मानव सत्ता ही विश्व ब्रह्माण्ड मे एक ऐसा दर्पण है जिसमे ब्रह्म का निरावरण तथा साक्षात दर्शन किया जा सकता है। अपने आप से बाहर ब्रह्मोप्लब्धि कसी भी देश, काल तथा वस्तु मे सम्भव ही नही है। और जब कोई भक्त इष्टोपासना मे निमग्न होता है, तब वास्तव मे अपनी आँख से अपना प्रतिबिम्ब देख कर मुग्ध होता है। अपना आप तथा अपने आप के लिए ही सभी कुछ प्यारा है। किसी अन्य सत्ता के साथ प्रेम भावनामात्र ही हुआ करती है।

अद्वैत आत्मसत्ता अपने समान तथा विशेष रूपो मे यो अभिव्यक्त हो रही है —

समान	विशेष
अटल सृष्टि नियम	व्यक्तिक इच्छा
सूर्य	चक्षु
सृष्टि	सकल्प
विराट्	विश्व
हिरण्यगर्भ	तैजस
ईश्वर	प्राज्ञ

इन दोनो पक्षो का मिलन आत्मा मे है जो इनसे ऊपर है। मानव स्वरूपत देश, काल, वस्तु से ऊपर तथा समग्र, समान तथा असीम से भी परे है। मानव स्वरूपत. वह चिदाकाश है जिसके समक्ष अनन्त आकाश भी एक बिन्दु समान है और सारी विश्वलीला एक झलक मात्र, समस्त विद्या एक किरण के सदृश है। सारे जगत मे मनुष्य ही तो एक ऐसा विचित्र जन्तु है, जो समकालीन भूमा तथा अल्प, शाश्वत तथा क्षणिक, चेतन तथा जड को जानता हुआ स्वयं उनसे ऊपर स्वमहिमा मे स्थित है। अन्यथा कोई भी बाहरी अनुभव उसे अनन्त, असीम का ख़याल न दिला सकता। ससीम, असीम दोनों ही आत्मा की अभिव्यक्ति है जो सर्वातीत तथा सर्वगत है।

: ४ .

मानव जीवन का प्रयोजन

आत्मा का स्वभाव अपने को द्रष्टा तथा दृश्य के रूप में व्यक्त करना है। आत्मा के गुण केवल अनन्त ही नहीं, अपितु

उसका प्रत्येक गुण अनन्त है।

किन्तु प्रकाश सर्वथा द्वन्द, भेद तथा वैचित्र्य द्वारा ही हो सकता है, इस हेतु से आत्मा अनन्त गुणों के प्रकाश के लिए अपने से ही अनेक द्वन्द, भेद तथा सीमाए उत्पन्न कर लेता है। सृष्टि का यही परम निगूढ तथा अवश्य-स्वीकार्य रहस्य है कि अनन्त ज्ञान-जीवन-शक्ति-सौन्दर्य-प्रेममय आत्मा अपनी ही माया (शक्ति) से अविद्या, मृत्यु, दुर्बलता, कदर्यता तथा द्वेष पैदा करके उनके द्वारा अपना प्रकाश करता है। जगत आत्मा मे कल्पित या अध्यस्त होने के स्थान मे आत्मसत्ता से ही विकिरित तथा विस्तारित होता है। सृष्टि द्वन्दात्मक स्वभाव रखती है। और विरोधी गुणो का आविर्भाव अस्थायी और केवल आत्मप्रकाश के निमित्त ही होता है और धनात्मक गुणो का प्रकाश होने पर ऋणात्मक रहते ही नही। उजाला, अन्धकार के सम्बन्ध मे ही अनुभूत हो सकता है, किन्तु उजाला होते ही अन्धकार का पता नही लगता मानो कभी हुआ ही न था।

प्रत्येक वस्तु या प्राणी का अस्तित्व आत्मप्रकाश के लिये ही है। एतद् व्यतीत होने तथा जीने का और अर्थ या उद्देश्य ही नही है। किन्तु प्रत्येक सत्ता का प्रकाश उसके अपने पद तथा स्वभाव के अनुसार हुआ करता है।

मानव सत्ता की विशेषता यह है कि इसके द्वारा जीवन अथवा शक्ति का ही नही, बल्कि आध्यात्मिक मूल्यो का प्रकाश भी होता है। मानव के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ या जन्तु को मूल्यो (सत्य, शिव, सुन्दर) का पता ही नही है। मनुष्य न केवल इन मूल्यो को अनुभव ही कर सकता है, प्रत्युत इन

की अनन्त सृष्टि, तथा वृद्धि भी करने मे सक्षम है। यह मूल्य ही तो मानव का यथार्थ लक्ष्य या इष्ट देव है। यदि ससार मे अविद्या, असत्य, दुष्टता तथा कदर्यता का नितान्त अभाव होता तो विद्या, सत्य, सौजन्य तथा भद्रता का प्रकाश ही कैसे हो पाता ? ऋणात्मक गुणो के विरुद्ध संग्राम द्वारा ही तो धनात्मक गुणों का प्रकाश तथा विकास होता है। मानव जीवन का अर्थ तथा उद्देश्य यही है कि वह आत्मज्ञान प्राप्त करता हुआ आध्यात्मिक या मानविक मूल्यों का अधिक से अधिक प्रकाश तथा वृद्धि करता हुआ आत्मानन्द का उपभोग तथा प्रसार करे। मानव जीवन आत्मलाभ तथा आत्मप्रकाश के लिये ही तो है। जीवन-अर्थ को स्पष्टत. समझने के लिये इन तीन तथ्यो का जानना आवश्यक है.—

(क) मानव अपने व्यक्तिक पक्ष पर सर्वथा सीमित अर्थात् मूढ, अपवित्र, दुर्बल, मरणशील तथा दु.खी है। और उसका जीना भी बुद्बुदे के समान क्षणभंगुर है। यह उसका अभावात्मक पक्ष है।

(ख) वह अपने अव्यक्तिक पक्ष पर हर प्रकार से असीम है इसीलिये वह अपनी सीमाओ, त्रुटिओं, दोषो, अभावो को जान कर उन्हें दूर करने के लिए यत्नशील होता है। वह अपने भीतर अनन्त ज्ञान, बल, शुद्धता, सौन्दर्य, आनन्द रखता है। यह उसका भावात्मक पक्ष है।

(ग) वह स्वयं आत्मा (ब्रह्म, परमात्मा) होने से वही स्वरूपतः ससीम-असीम, भाव-अभाव और उच्च-नीच का आपेक्षक तथा समकालीन ज्ञान रखता है। उसके ससीम तथा असीम

पक्ष यथाक्रम दीपक तथा चन्द्र के समान है और उसका स्व-रूप सूर्य के समान है ।

: ५ :

अन्तर-ज्योति

साधारण मान्यता तो यही है कि मनुष्य अत्यन्त क्षुद्र तथा दुर्बल जन्तु ही नही, भूल चूक और बुराई का पुतला भी है, वह स्वभावत. भला नही । उसे अपने से बाहर ही जीवनालोक ढूंढना होगा । उसमे अपनी कोई शक्ति या क्षमता नही है ।

किन्तु आत्मज्ञान मानव की अनन्त महिमा दिखाता हुआ उसे जगाता है, सुलाता नही; उभारता है, निराश नही करता । वह बतलाता है कि मानव शरीर सर्वोत्कृष्ट देवमन्दिर है जिसमे स्वय परमदेव दैदीप्यमान होकर समस्त विश्व को आलोकित कर रहे है । वह प्राणिमात्र का सरताज और प्रकृति का स्वामी, ज्ञाता, विचारक तथा समालोचक है । उसकी अन्तर्ज्योति से ही सभी गुह्य ज्ञात तथा सिद्ध होता है और वह स्वय सत्य का आविष्कार कर सकता है और वही तो ग्रन्थो तथा महात्माओ के बचनो को अर्थ देता हुआ उनका मूल्याकन करता है । स्वय सब का मापक होने से मापा नही जा सकता । यदि ऐसा न होता, तो सभी उपदेश और ग्रन्थ व्यर्थ होते । यदि आँख मे दृक् शक्ति न हो, तो दीपक, सूर्य, चन्द्र की ज्योतिया भला किस काम की ? सर्व बाहरी ज्योतियो की ज्योति दृष्टि

है। इस प्रकार यदि अन्तःकरण में चेतना ही न हो, तो विश्वानुभूति कैसे और किसे हो पाएगी ? अतः आत्मज्योति ही ज्योतियो की ज्योति है, यह सभी की प्रकाशक है—यहाँ तक कि अन्धकार, अभाव तथा अचेतना की भी; इससे परे इसका प्रकाशक कोई नही है।

आत्मज्ञान जीवन मुक्ति देता है—जीवन की मुक्ति, जीवन से मुक्ति नही। आत्मसम्मान तथा आत्मावलम्बन की शिक्षा देता है, बन्धन काटता है, दासता से छुड़ाता है, भिखारी के स्थान मे दानी बनना सिखलाता है, यह 'करो' या 'न करो' का हुक्म न देता हुआ स्वयं देखना, परखना, सोचना सिखाता है। किसी से यह कहना कि तुम स्वय सत्य को नही जान सकते और पठन पाठन तथा श्रवण द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, ऐसे ही है, जैसे किसी की आंखें निकाल कर उसे चश्मा प्रदान करना।

: ६ :

जीवन में एक मौलिक द्वन्द

प्रत्येक मानव जो अपने हृदय-ग्रंथ का पाठ कर सकता है अपने भीतर दो विरोधी तत्त्व पायेगा।

(क) उसकी यह अमिट इच्छा कि वह अमर तथा आनन्दित रहे। उसे मिटना या दुःखी होना स्वीकृत नहीं है।

(ख) उसका शरीर तथा चेतना क्षणिक तथा अस्थायी

हैं और मृत्यु तथा दुःख, अटल है।

जब तक इस द्वन्द का समाधान न हो पाए, भय तथा शोक से मुक्ति नही हो सकती।

शिशु तथा पशु दोनो मे यह द्वन्द नही पाया जाता क्योकि वह दोनो आत्मज्ञान तथा मृत्यु-ज्ञान नही रखते। जीते हुए भी वह अपने जीवन और मरण को नही जानते। वे भी दु ख पाते और मरते तो है, किन्तु दु ख तथा मृत्यु के विषय मे कुछ सोच नही सकते, मानव मन मे आत्मज्ञान की एक किरण पड़ते ही मृत्यु दिखाई देने लगती है। जीवन मे अमरत्व और मृत्यु एक दूसरे का पता देते है। जिसे अमरत्व का अनुभव ही नही, वह मृत्यु से क्यो डरेगा ? जो मृत्यु को नही जानता, उसके लिये अमृत्व का अर्थ ही क्या होगा ? अत अमृत तथा मृत्यु, आनन्द तथा दु.ख एक ही मुद्रा के दो पक्ष है और एक दूसरे के पूरक है।

आत्मज्ञान की ज्योति मृत्यु तथा दु ख को भी अमरत्व तथा आनन्द के अमूल्य दर्पण बना देती है। मृत्यु या दु.ख की अनुभूति के बिना मानव मानव ही नही होता और मृत्यु तथा दु.ख को अमृत तथा आनन्द का द्वार बना देना केवल मनुष्य के हिस्से मे ही आया है। मृत्यु तथा दु.ख शोक अल्प के लिये है, भूमा तथा असीम के लिये नही। आत्मज्ञान के उजियारे मे अमृत तथा मृत्यु, आनन्द तथा दु.ख मे कोई विरोध ही नही रहता।

ससीम तथा असीम भी एक दूसरे के ज्ञापक तथा सूचक है। आत्मानुभूति मे इनकी एकता हो जाती है, तब मृत्यु में

ही अमृत और दु ख मे ही आनन्द की प्राप्ति संभव होती है, मानसिक या ऐन्द्रिक स्तर पर कभी नही। और जब तक ससीम तथा असीम की पारस्परिक पूरकता दिखाई न दे, जीवन व्यर्थ तथा दु.खमय ही प्रतीत हुआ करता है। और जैसे प्रतिबम्ब का अर्थ प्रतिबिम्बित वस्तु मे मिला करता है, वैसे ही जगत का अर्थ भी आत्मा मे पाया जाता है। यह जगत् आत्मा का विरोध होने के स्थान मे आत्मा का द्योतक है, आवरण नही।

केवल आत्मज्ञान होने पर ही जीवन प्रहेलिका को बूझा जा सकता है और तब सब कुछ सार्थक भासने लगता है। हृदय ग्रंथि खुल जाती है, सशय छिन्न हो जाते है और समस्त द्वन्द एकता का रूप धारण कर लेते है।

: ७ :

धर्म-बुद्धि का तात्त्विक रहस्य

धर्म-बुद्धि के विषय मे विविध मत पाये जाते है। कई तो इसे 'भगवत् आव्हान' या 'भगवान् का सूक्ष्म तथा नीरव आदेश' कहते हैं। और कई इसे 'जीवन-पोत कम्पास' का नाम देते हैं। कई विचारको ने इसे शिक्षा तथा संगति का फल समझा है और कई जड़वादियो ने इसे $\frac{1}{3}$ अविद्या + $\frac{1}{3}$ भ्रम + $\frac{1}{3}$ भय सिद्ध करने का यत्न किया है।

आत्मज्ञान इस भेद को ऐसा खोल देता है कि फिर इस मे सदेह की कोई गु जायश हो नही रह जाती। और वह इस प्रकार कि अज्ञानी पुरुष अपने को अपने विशेष व्यक्ति मे सीमित मानता हुआ शेष समस्त जगत को एक भिन्न सत्ता निश्चित करता है और अपने विशेष व्यक्ति को सर्वहित का साधन बनाने के स्थान मे अन्य सबको अपने व्यक्तिक हित का साधन बनाना चाहता है। यही स्वार्थपर तथा पापमय जीवन है।

परन्तु यदि अभ्यासवश मन पथरा न चुका हो तो मनुष्य अज्ञानावस्था मे भी अपनी सत्ता के असीम पक्ष को कभी न कभी और कुछ न कुछ अनुभव करता हुआ जब वह दूसरो का अहित करता है, तब अपने भीतर से ही अपने लिये तिरस्कार तथा भर्त्सना अनुभव करता है। वास्तव मे यह फटकार अपनी सत्ता के असीम तथा विश्वव्यापी पक्ष की ओर से होती है।

जब कोई व्यक्ति अपने हाथ से अपने शरीर को चुटकी भरता है, तब उस हाथ को भी तज्जनित पीडा मे भाग लेना ही पडता है, इसी प्रकार अपनी सत्ता के असीम पक्ष का विचार, भाव, अथवा कर्म द्वारा विरोध करने पर मनुष्य आप ही अस्वस्थ हो जाता है। इसके विपरीत सर्वहित करने से आत्म-प्रसाद प्राप्त होता है।

आसुरिक तथा दैवी जीवन मे यही भेद है, कि स्वार्थपर राजस पुरुष अपने आप मे अप्रसन्न होने के कारण आनन्द को अपने से बाहर ढूढा करता है जब कि स्वस्थ मानव अपने आप मे ही आनन्द की अक्षुण्ण निधि पाता हुआ इसे चारो ओर

लुटाया करता है। वह अपनी व्यक्तिक इच्छा को जागतिक इच्छा के आगे अर्पण करके जीवन-मुक्ति का आस्वाद करता है।

अत. धर्म-बुद्धि कोई काल्पनिक वस्तु नही। यह एक प्रकार की आत्मानुभूति ही है। और इसकी वास्तविकता ऐसी ही सुनिश्चित है जैसे अगुल के लिये समस्त शरीर तथा चक्षु के लिए सूर्य की। धर्म-बुद्धि हमे किसी अन्य सत्ता की दासता सिखलाने के स्थान मे स्वराज्य प्रदान करती है।

: ८ :

परतन्त्र या स्वतन्त्र ?

कौन-सा मस्तिष्क होगा, जिसमे मानव इच्छा के परतन्त्र या स्वतन्त्र होने के विषय मे कभी प्रश्न ही न उठा हो ? यह प्रश्न चिर पुरातन तथा नित नवीन है। दार्शनिक लोगों ने इस विषय पर अनेक विचार प्रकट किये हैं किन्तु वे कोई पूर्णतः सन्तोषजनक समाधान नही कर पाये।

यह पुरातन तम प्रश्न प्रत्येक हृदय मे इसलिये उठा करता है कि एक पक्ष पर तो मानव देखता है कि ससार मे सर्वत्र कारण-कार्य का अटल नियम विद्यमान है। कोई भी पदार्थ या घटना इससे अव्याहित नही। मानव जो भी कार्य करता है, उसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होता है, चाहे वह

कारण उसके अपने मन मे हो और चाहे उसके प्रतिवेश मे। तद्व्यतीत स्वय मानव सघात भी तो माता-पिता की शारीरिक या मानसिक वृत्तियो के सन्तान मे आवर्त्तन तथा प्रतिवेश के प्रभावो का फल होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि इन दोनो कारणो का सम्पूर्ण ज्ञान हो तो सूर्य-चन्द्र ग्रहण के समान मनुष्य के भावी आचार विचार को अभ्रान्त रूप से बतलाया जा सकेगा।

दूसरे पक्ष पर देखो, तो मनुष्य अपने को स्वतन्त्र अनुभव करता है और इसीलिये उसे अपने आचरण के लिये दायी माना जाता है और भलाई करने पर आत्मप्रसाद और बुराई करने पर अपने भीतर से फटकार पाता है। जिज्ञासु पहले देख चुका है कि देश, काल तथा कारणत्व का अनुभव बाहर से होने के स्थान मे हमारे अपने मन से ही उदय हुआ करता है और मन किसी ऐसी वस्तु या घटना की कल्पना कर ही नही सकता जो किसी देश या काल मे न हो या अकारण हो और जब हमारा मन जीवन तथा आत्मा सबन्धी विचार करने लगता है, तो वह अभ्यासवश इन्हे भी देश, काल तथा कारणत्व के भीतर सोचे बिना रह नही सकता और इसी कारण से वह कही स्वातन्त्र्य का निशान नही पाता।

किन्तु हम स्पष्टतः देख चुके है कि आत्मा देश, काल, कारणातीत है। आत्मा से मन, बुद्धि, इन्द्रिय, विषय जगत सिद्ध तथा प्रमाणित होते है, आत्म स्वत. सिद्ध तथा स्वय ज्योति है। शिव (आत्मा) स्वेच्छा (निज शक्ति) से अपने आधार पर ही देश-काल-वस्तुमय जगत का सर्ज्जन करता है,

अपने स्वभाव से, किसी वासना से नही और सृष्टि का नियम-बद्ध सर्जन होने पर भी आत्मा स्वयं नित्य मुक्त है और इसलिए मनुष्य भी जो आत्मज्ञान विशिष्ट जन्तु है अपने को स्वतन्त्र ही अनुभव नही करता, वल्कि अपना भाग्य-निर्माता हो सकता है। वह अपने सघात मे तो सम्पूर्णत बद्ध है, किन्तु अपने स्वरूप मे पूर्णत: स्वतन्त्र है।

आत्मा है, किन्तु जगत प्रतीत होता है, इसी प्रकार मानव स्वतन्त्र है, किन्तु वद्ध प्रतीत होता है और एक रहस्यमय तत्त्व यह है कि जिस प्रकार आत्मज्ञान दृश्य प्रतीति की अपेक्षा से ही उदय होता है, इसी प्रकार वन्धन की प्रतीत के विना मुक्त होने की अनुभूति भी असम्भव ही है। जड़ भी चेतन का ही रूप तथा उसका लखायक है आवरक नही।

: ६ :

तीन बड़ी आशंकाएं

ऊपर उठना हमे उल्लास देता है किन्तु इसके साथ गिरने की आशका भी वनी रहती है और जितनी ऊंचाई हो उतनी ही आशंका हुआ करती है।

आत्मज्ञान तो हमे ऊंचाई से भी ऊचा उठाता है क्योंकि आत्मा देश को गम नही है। और यह आध्यात्मिक उन्नता केवल मनुष्य को ही प्राप्त हो सकती है और आत्मपद पर उठने तथा स्थित हुए विना निरतिशय आनन्द मिल ही नहीं

सकता किन्तु इस अदेश-अकाल उच्चता पर से गिरने का भी बडा खतरा है और जैसे देशगत ऊचाई सिर को चक्कर देती है वैसे कई लोग वेदान्त तत्त्व का अलौकिक ज्ञान पाकर व्यवस्थाच्युत तथा भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए वेदान्त के सम्बन्ध मे अधिकारभेद पर बहुत बल दिया गया है।

किन्तु आत्मज्ञान कभी पतन का हेतु नही होता। यदि दोष है तो वह वेदान्त की परम्परागत शिक्षा प्रणाली मे है।

ज्ञानमार्ग के पथिक को इन तीन बडी आशकाओ से सावधान रहना चाहिए —

(१) आत्मज्ञान के श्रवण मात्र से जिज्ञासु यह सोचने लगता है कि वह हर प्रकार से पूर्ण तथा अलेप है, सबका साक्षी सबसे न्यारा है, उसे कोई भी दृश्य छू तक नही सकता। उन्नति या सुधार व्यर्थ शब्द है क्योकि उसमे कोई त्रुटि नही है। उसे अपने विकास के लिए चेष्टा की दरकार नही है और वह जो कुछ पाना चाहता था पा चुका है।

किन्तु आत्मज्ञान तथा जीवन एक ही वस्तु नही है। जीवन तो आत्मज्ञान के पश्चात आत्मप्रकाश में है। और आत्मा का प्रकाश देश, काल, वस्तु के बिना हो नही सकता। जब कोई ग्रन्थकार अपने अनुभव का या कोई सगीतकार अपने भीतरी आनन्द तथा सौन्दर्य का प्रकाश करना चाहता है तो वह देश, काल तथा वस्तु द्वारा ही ऐसा कर पाता है। और देश-काल-वस्तु मय जगत भी तो आत्मा का व्यापक तथा शाश्वत प्रकाश ही तो है। इसी प्रकार बीज भी अपने स्वरूप का प्रकाश वृक्ष द्वारा ही कर सकता है। जीवन का

सार आनन्द है किन्तु आत्मानन्द का प्रकाश स्वस्थ रहने ही में नही है, अपितु आत्मा के नित नए से नए प्रकाश में है। रागी को अपनी संगीत कला का आनन्द गान करने से ही उपलब्ध हो सकता है। आत्मतत्व देश, काल तथा परिवर्तनातीत है किन्तु जीवन तो अपने प्रत्येक स्तर पर देश काल मे नित्य-नवीकरण द्वारा ही जिया तथा सफल किया जा सकता है। आत्मा स्वयं स्थितिशील है किन्तु अपने प्रकाश मे अनन्त प्रगतिशील भी है। आत्मा को जान कर उसीमे स्थित व लय हो जाने मे जीवन ही कहाँ है ? सर्व क्लेशो की निवृत्ति मे जीवन मुक्ति नही किन्तु आत्मा की अनन्त विभूति को देश काल मे व्यक्त करने मे है।

(२) दूसरी वडी आशंका यह है कि जिज्ञासु आत्मज्ञान की झलक पाते ही कहने लगता है, "मै त्रिगुणातीत हूँ, सृष्टि-नियम मेरे संघात पर ही शासन कर सकते हैं किन्तु मुझे स्पर्श नही कर सकते। इनका सम्बन्ध प्रकृति से है, पुरुष से कभी नही। मुझे नियम ज्ञान तथा इनके पालन की कोई आवश्यकता नही। मै तो नित्य मुक्त हूँ।"

किन्तु यह धारणा वतलाती है कि अव भी अधूरा आत्मज्ञान हुआ है, पूरा तथा सम्यक नहीं। समस्त जगत आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश है और सृष्टि नियम भी आत्मा की स्वेच्छा प्रकट करते हैं। आत्मा की भान्ति यह नियम भी सत्, सनातन हैं और इनके अनुसरण मे ही जीवन का विकास और इनके उलंघन मे जीवन का ह्रास है। भला कोई संगीतकार संगीतके नियमो की अवहेलना करता हुआ गा सकता है ? अथवा कोई

लेखक व्याकरण के नियमो के निरादर द्वारा सफलता लाभ कर सकता है ? कभी नही। शारीरिक जीवन के नियमो का उलघन करके स्वास्थ्य रक्षा कैसे सम्भव हो सकती है ? और अस्वस्थ शरीर मे कैसे आत्मानन्द का प्रकाश हो सकता है ? जो लोग नियम पालन के महत्व को नही जानते, वही जीवन के दु:खो तथा क्लेशो से मुक्त होने के लिए नाना प्रकार के मादक पदार्थो का सेवन करते हैं किन्तु ऐसा करना जीवन से पलायन है, इसका साफल्य नही, विलुप्ति है, मुक्ति नही।

(३) तीसरी आशका यह है कि जिज्ञासु यह श्रवण करके कि यह सब ब्रह्म है, निश्चय करने लगता है कि जो कुछ भी है या हो रहा है, ठीक है, भला है, इससे अच्छा हो ही नही सकता। अत. अपने मे या प्रतिवेश मे सुधार की चेष्टा सर्वथा व्यर्थ है, साधु और चोर मे कोई भेद नही, सब समान है। पुनर्निर्माण की योजनाए निष्फल हैं। सर्वत्र, सर्वदा ब्रह्म दर्शन करते रहना ही एकमात्र मानविक कर्तव्य है।

किन्तु ऐसा अभेद दर्शन सम्यक दर्शन नही। भेद मे अभेद तथा अभेद मे भेद देखना ही सम्यकावेक्षण है। जो स्वरो के भेद के साथ साथ राग और ताल की समानता को अनुभव नही करता, वह सगीत को क्या जानेगा ? जो वर्णभेद को नही देखता, उसकी दृष्टि ठीक नही है। इस प्रकार दृश्य जगत मे गुण-भेद न देखना एक प्रकार की अन्धता ही तो है। सम्यक-दर्शी पुरुष समकालीन भेद और अभेद, नानात्व तथा एकत्व, परिवर्तन तथा समरसता को देखा करता है। वह तमस् पर रजस् तथा रजस् पर सत्त्व का आधिपत्य स्थापन करना चाहता

है। वह जानता है कि अपराप्रकृति तो कच्चा माल है जिसके प्रयोग द्वारा इस संसार को पराप्रकृति के अनन्त मूल्यो से मूल्यवान बनाना है। हमे इसी लोक मे स्वर्ग का निर्माण करके यही परमानन्द पाना है।

सम्यक ज्ञानी पुरुष ससार मे अविद्या, दुष्टता, दारिद्रय, अत्याचार, अन्याय, दासता, कदर्यता, रोग, शोक, अव्यवस्था, भ्रम देख इन्हे दूर करने के लिये कटिबद्ध होता है। पूर्ण यथार्थ आत्मज्ञान हमे सुलाने के स्थान मे जगाकर दायित्व सिखाता है।

परमार्थ को सत् और व्यवहार को असत् कहने वाले स्वय झूठे होते है। तत्त्व-ज्ञान यह सिखलाता है कि आत्मा (ब्रह्म) सत्य है और जगत ब्रह्म (सत्य) का अत्यन्त प्रशसनीय प्रकाश है और मानव जीवन का अर्थ यह है कि मनुष्य अपराप्रकृति पर विज्ञान द्वारा आधिपत्य लाभ करके इसे पराप्रकृति के मूल्यवन से उत्तरोत्तर धनी बनाता चला जाय। अन्यथा मानव जीवन कोई अर्थ ही नही रखता।

: १० :

जीवन-लक्ष्य

प्राय. यह समझा जाना है कि जीवन का लक्ष्य किसी और देश काल में है और उस पर पहुँच कर ही जीवन सफल होगा, यहा और अब नहीं।

प्रगतिवादी भी यही कहते हैं कि मनुष्य क्रमश. अज्ञान से ज्ञान, निर्बलता से बल, बुराई से भलाई, दासता से स्वातन्त्र्य, अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढा जा रहा है।

किन्तु विचारणीय वात तो यह है कि क्या अपूर्ण किसी भी प्रगति वेग से कभी पूर्ण भी हो सकता है ? कोई भी ससीम नही हो सकता। इसलिये भविष्य मे पूर्णता प्राप्त करने की आशा एक दुराशा मात्र ही है।

परन्तु मानव हृदय सर्वागीण पूर्णता के लिये व्याकुल हो हो रहा है। उसे केवल पूर्णता लाभ मे शान्ति प्राप्त हो सकती है, इससे प्रथम उसे चैन ही नही आता।

असली वात यह है कि जीवन का नियम विकास या पूर्णता है और इसकी दिशा पूर्णता की ओर है। किन्तु किसी काल मे भी पूर्णता को पाया नही जा सकता। दूसरे शब्दो मे काल के भीतर जीवन के आदि-अन्त का पता नही लग सकता।

इस पर प्रश्न उठता है कि क्या पूर्णता एक छलावा ही है ? और यह व्यापक तथा अमिट भ्रम कहाँ से उपन्न हो गया ?

मनुष्य पूर्णता चाहता है किन्तु वह किसी भी प्रगति-वेग से प्राप्त होने की नही। और पूर्णता की अनधिगम्यता का ज्ञान भी मानव को सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

परन्तु आत्मज्ञान ही इस जटिल समस्या का समाधान कर सकता है क्योकि वह वतलाता है कि आत्मा स्वय पूर्ण है

और आत्मज्ञ पुरुष को देश काल मे पूर्णता की चाहना ही नही हुआ करती। देश काल आत्मा के अन्तरहित प्रकाश के लिये हैं और यह प्रकाश कही और कभी खत्म होने वाला नहीं। पूर्णता हमारे अपने स्वभाव मे तथा देश या काल के प्रत्येक विन्दु पर विद्यमान है। कोई भी शारीरिक या मानसिक दौड़ इस तक पहुँचा नही सकेगी। किसी देश काल मे पूर्णता लाभ की आशा ऐसी ही व्यर्थ है जैसे कि अपने को अपनी छाया मे पाने की दुराशा। यह तो प्राप्त की प्राप्ति है जो अपने मे जागने पर प्रतिक्षण तथा निरन्तर हुआ करती है।

अतः पूर्णता का लाभ अभी और यही सभव है, और कही और कभी नही। कालान्तर तथा जन्मान्तर मे पूर्णता-लाभ की आशा एक व्यर्थ भ्रम है। यथार्थ आत्मज्ञान हो, तो यही और अभी पूर्णता है, मुक्ति है, स्वर्ग है, परमगति है। और यदि अभी नही तो कभी नही, यहाँ नही तो कही भी नही है।

जीने का आनन्द तो सदा पूर्णता की ओर बढ जाने में है। ठहर जाना मृत्यु है। किन्तु जीने का परम तथा निरतिशय आनन्द आत्मलाभ मे ही है। पूर्णता वर्त्तमान मे है और प्रगति की दौड़ भविष्य की ओर है। जीवन के स्वरूप में नित्य स्थिति और इसके रूप मे निरन्तर गति है। यही जीवन की परम रहस्यमय लीला है! केवल पूर्णता की ओर दौड़ पूर्णता से दूर ही दूर ले जाती है और केवल अपने आप में स्थिति भी वास्तविक जीना खत्म कर देती है। सम्यक जीवन में निरन्तर प्रगति तथा नित्य स्थिति साथ साथ रहते है।

: ११ :

संसार वृक्ष का अन्तिम फल

वह बीज ही क्या होगा जो वृक्ष के रूप मे अपने स्वरूप को व्यक्त न कर पाऐ ? और वह वृक्ष ही क्या जो अपने विकास के अन्त पर उसी बीज को साक्षात प्रकट न करे जिस से उसका जन्म हुआ है ? जीवन का रहस्य न तो केवल स्वरूप मे मिलता है और न केवल रूप मे ही पाया जाता है। कोई भी सत्ता अपने रूप मे ही जिया करती है।

आत्मा बीज है और जगत वृक्ष। यह जगत आत्मा से विनिर्गत हुआ है, आत्मा मे कल्पित या अध्यस्त नही है। और व्यक्तित्व इस वृक्ष का अन्तिम फल है, जो विश्व जगत का अन्तिम फल है, जो विश्व जगत का निचोड, विकास क्रिया की चोटी, सभी का मूल्यप्रदाता, स्वयं अमूल्य तथा अप्रमेय, नर मे नारायण, अश मे समग्र, इस सुप्त सृष्टि मे एकमात्र जाग्रत सत्ता, समकालीन सृष्ट तथा सृष्टा, और पृथक् भविष्य के लिये दायी है।

रूप दृष्टि से मनुष्य जगत के सामने तुच्छ है किन्तु स्वरूप दृष्टि से वह जगत से कही बडा है क्योकि वह जगत का द्रष्टा, आलोचक है। जगत न अपने को जानता है और न किसी और को ही।

और व्यक्तित्व मे ही जो केवल मानव ही लाभ कर सका है, आत्मा (ब्रह्म) की जो अभिव्यक्ति सभव है वह किसी इतर प्राणी मे नही। मनुष्य ही तो जान और कह सकता है कि मैं

हूं और मूल्यों (सत्य, मंगल, सौन्दर्य) को जान कर उनकी वृद्धि तथा रचना करने को सक्षम हूं।

सम्यक आत्मज्ञान संसार को अफीम नही खिलाता और न ब्रह्म मे लय होना सिखलाता है। इसकी शिक्षा तो यह है कि उठो और जागो, न कि 'लेटो और सो रहो।' यह मस्ती या दायित्वहीनता की ओर नही ले जाता।

किन्तु आज वेदान्त के नाम पर यह शिक्षा दी जा रही है कि व्यक्तित्व एक अविद्या जनित भ्रम है। इसे मिटाना ही पुरुषार्थ है। विकृत वेदान्त जानता ही नही कि पार्थिव जीवन का परम उद्देश्य व्यक्तित्व की पूर्णता है। व्यक्तित्व का आविर्भाव ही तो इस पृथ्वी पर करोड़ो वर्षो के जीवन सग्राम को सार्थक बनाता है। आत्मज्ञान आत्मविकास का साधन होने के लिये है। हमे जीवन से ही मुक्त करने के लिये नही।

हम इस जगत मे कही से भेजे नही गये, न ही हमे मरण-पश्चात् किसी और लोक या योनि मे भेजा जायगा। हम इस जगत से जन्मे हैं या जगत ही हमारे रूप मे जाग उठा है। हमने यहाँ जगत से भागने या इसे भुलाने के लिये जन्म नही लिया। हमारा जीवन-कर्तव्य जगत को समझ कर इसे भद्र से भद्रतर रूप देना है। और जब तक जगत का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त न हो, यथार्थ स्वरूप-ज्ञान की सभावना ही नही है।

आत्मज्ञान का फल इस जगत में आत्म-प्रकाश होना चाहिये। व्यक्तित्व ही इस प्रकाश का अमूल्य यन्त्र है। व्यक्तित्व के बिना न तो हम जगत् को जान पहचान सकते है और न आत्मा (ब्रह्म) को ही। जिस व्यक्तित्व द्वारा आत्मज्ञान सभव

होता है, उसे ही एक मिथ्या भ्रम वतलाने से बडा भ्रम और क्या हो सकता है ?

हमे पचकोष मिले हैं, आत्मा को ढाकने के लिये नही प्रत्युत आत्मा की अनन्त विभूति के अनुभव करने तथा आत्म प्रकाश के लिये मिले है ।

हमारा जन्म इसलिय हुआ है कि हमारे ज्ञान-भाव-कर्म द्वारा आत्मा की **पराप्रकृति** का नित नया तथा बढिया प्रकाश हो । यह जगत् ही साक्षात् *'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'* की प्रत्यक्ष मूर्त्ति बन जाये । यथार्थ शिक्षा हमे जीवन से मुक्त होने के स्थान मे *'जीवन की मुक्ति'* सिखलाती है और विराग के स्थान मे अनुराग, लय के बजाय विकास, मत्तता की जगह अवगति पर बल देती है ।

सारे जगत् मे व्यक्तित्व से बढ कर महत्वपूर्ण कोई वस्तु नही है । व्यक्तित्व ही नर मे नारायण का साक्षात् दर्शन करता और कराता है । व्यक्तित्व लोप से बढ कर कोई आत्महत्या नही है । आत्मज्ञान के प्रचार की सफलता इस बात मे है कि उत्तरोत्तर तथा उत्तम से उत्तम व्यक्तियों का जन्म होता चला जाय और यही दुर्गन्ध पूर्ण ससार मानव पुष्पो द्वारा खिल-खिला तथा महक उठे ।

: १२ :

पूर्ण से पूर्ण को लेकर भी

थोडे लोग ही जानते होगे कि साधारण तथा आध्यात्मिक तर्क शास्त्रो मे बड़ा प्रभेद है । जबकि साधारण तर्क शास्त्र के

अनुसार अंश कभी अपने समग्र के वरावर नही हो सकता, अपने समग्र से वडा होने की तो वात ही दूर रही। किन्तु भौतिक जगत् से ऊपर उठ कर जीवन जगत मे आख खुलते ही दिखाई देता है कि जीवन के स्तर पर अश अपने समग्र के वरावर ही नही, प्रत्युत् उस से वड़ा भी हो सकता है।

किसी वृक्ष को ही देखो। कच्चा फल वृक्ष के आश्रय तथा उनका क्षुद्र अश होता है। किन्तु फल के पकते ही उसके भीतर का प्रत्येक वीज अपने स्वरूप (शक्यता) मे न केवल अपने जन्मदाता वृक्ष के वरावर ही प्रत्युत् उससे भी वड़ा हो सकता है। और आध्यात्मिक जगत् मे जागने पर यह भेद खुल जाता है कि मनुष्य जो अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होता है, अपने स्वरूप (शक्यता) मे न केवल दृश्य जगत से ऊपर तथा वड़ा है, प्रत्युत् स्वयं वही वीज है जिससे जगत रूपी वृक्ष की उत्पत्ति हुई है।

यही जीवन का सर्वोत्कृष्ट तथा परम रहस्य है। और ऋपियों ने इस गुह्यात् गुह्यतर रहस्य का और मनुष्य को जगाने के निमित्त '*तत्त्वमसि*' का उपदेश दिया है कि जीव स्वरूपतः शिव ही है। वह केवल रूप मे ही परिमित तथा ससीम भासता है, स्वसत्ता (आत्मा) मे वह स्वय '*सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म*' है। नारायण ही नर के रूप मे साक्षात् प्रकट होता है। प्रत्येक मानव ब्रह्म का अवतार है। इसीलिये तो वह आत्म जिज्ञासा को ही ब्रह्म जिज्ञासा का नाम देते है क्योंकि '*अयमात्मा ब्रह्म*' ही परम् सत्य है।

और जैसे वृक्ष से वीज उत्पन्न होने पर भी वृक्ष की पूर्णता

मे फर्क नही आता, वैसे मानव रूप मे ब्रह्म के अभिव्यक्त होने पर भी ब्रह्म की पूर्णता मे कोई अन्तर न आने से पूर्ण से पूर्ण को लेकर भी शेष पूर्ण ही रहता है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्वो मे मौलिक भेद यही है कि जहाँ भौतिक पदार्थ बटने से घट जाते है वहाँ आध्यात्म-तत्व बाँटने से घटने के स्थान मे बढते है। विद्या, प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य बाँटने से उल्टे बढ जाते है और जो इस परम रहस्य को नही जानते, वह जीव ब्रह्मैक्य को अनुभव करने मे असमर्थ ही रहते हैं। आस्तिक लोग तो इतना ही जानते तथा मानते हैं कि ईश्वर है. जिसे वह प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया करते है। किन्तु तत्त्वदर्शी '*अहं ब्रह्मास्मि*' की घोषणा करते हैं।

आत्मा मे जाग्रत व्यक्ति निर्भय होकर कहता और जानता है कि .—

जगत् मेरी ही विभूति तथा मेरा ही चमत्कार है। इसका अस्तित्व मुझ से इसी प्रकार अलग नहीं जिस प्रकार बिम्ब से प्रतिबिम्ब का। प्रत्येक पदार्थ या घटना में मेरा होना विद्यमान है। मेरी आत्मज्योति से ही यह सब कुछ चमकता है, प्रत्येक शक्ति मेरी अपनी ही शक्ति है। सौन्दर्य में मेरा ही आकर्षण है। आकाश में मेरा ही वास, काल प्रवाह में मेरी ही चाल है। मैं ही अंश तथा समग्र, एक तथा अनेक रूप हूँ। सारा ब्रह्माण्ड मेरा अपना पिण्ड है। मैं कुछ नहीं तथा सभी कुछ हूँ। प्राकृतिक नियम मेरी इच्छा के रूप है। मेरे जीवन से सब जीते हैं और मेरा आनन्द जीवन को मिठास देता है। मैं एक, अद्वैत, सर्व हूँ, सब कुछ मुझ में, मुझ से और मेरा है। सब अपने हैं, कोई बेगाना नहीं है।

किन्तु क्या इस अपरोक्ष ज्ञान को पाकर जीवन पूर्णत सफल हो जायेगा? जबकि कोई हर्ष-शोक, राग-द्वेष, लोभ-मोह, भय-सन्देह न रहेगे? नही जीवन का स्वास्थ्य उसके सन्तुलन मे है। और जब तक जीवन मे ज्ञान, भाव तथा इच्छा समकालीन समुन्नत रूप मे न पाये जाए, जीवन अपूर्ण ही रहेगा। अत सर्व मे आत्मदर्शन द्वारा सर्व के साथ आप की भाँति प्रेम होने पर भी सर्वोदय के लिये नि स्वार्थ कर्म का होना भी आवश्यक है।

ज्ञान, प्रेम (भक्ति) तथा कर्म को त्रिमार्ग कहना बड़ी भूल है। जीवन की पूर्णता तथा सफलता के लिये इन तीनों का समकालीन पाया जाना परमावश्यक है। जब तक इन्हे जुदे जुदे मार्ग जानकर इनमे से केवल एक या दो को यथेष्ट समझा जाता है, तब तक सम्यक ज्ञान हुआ ही नही।

यह एक परम्परागत विचार है कि कर्म से आगे उपासना है और इससे आगे तत्त्वज्ञान है जिसकी प्राप्ति पर कर्म और भक्ति अपने आप ही झड जाते है। किन्तु यह विचार धारा भी जीवन के लिये घातक ही है।

जीवन की पूर्णता तो इस बात मे है कि तत्त्वज्ञान व्यापक प्रेम का रूप धारण करे और प्रेम भी केवल भावुक होने के स्थान मे क्रियात्मक हो। जीवन की पूर्णता का आरम्भ ज्ञान से होकर इसकी सफलता सर्वोदय के निमित्त उत्पादक कर्म मे ही हो सकती है। नैष्कर्म्य मे कोई पूर्णता या सफलता नही है।

प्रचलित वेदान्त की घातक एकपक्षीयता से बचने के लिये इस रहस्यपूर्ण श्रुति वाक्य पर विचार करना चाहिये :—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्या मुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ।। ईषोपनिषत् ।।

'जो लोग अविद्या का अनुसरण करते है, वह अज्ञान के अन्धकार में प्रवेश करते हैं, किन्तु जो लोग केवल ज्ञान मे ही मग्न रहते हैं, वह उनसे भी बढ कर अन्धकार मे प्रवेश पाते है ।'

: १३ :

अज्ञान तथा ज्ञान का प्रभेद

अपने आप को न जानना अज्ञान है, चाहे और विद्याओ में निपुणता प्राप्त हो। जो अपने को पहचानता नही, वह और सभी कुछ जानता हुआ भी कुछ नही जानता । वह जगत को देखता हुआ भी नही जानता कि यह वस्तुतः है क्या और वह उसके साथ क्या सम्वन्ध रखता है । वह अपने जीने को तो जानता है किन्तु जीने का अर्थ नही जानता ।

अज्ञानी पुरुष समझता है कि वह जगत से और जगत मे है और इन्द्रिय, अन्त करण या आत्मा उसके शरीर के भीतर हैं। वह निश्चय करता है कि मौलिक सत्ता प्रकृति है और प्रकृति से जीवन तथा चेतना का प्रकटन होता है । वह अपने को एक तुच्छ तथा क्षुद्र जन्तु मानता हुआ विश्वपति भगवान् की शरण लेता और उसके आगे याचना, प्रार्थना करता है ।

वह अपने चारो ओर प्रकृति की प्रकाण्ड शक्तियां देख कर डरता हुआ नही जानता कि वह अपना भाग्य निर्माता है और अपने को दीन, हीन, दुर्बल, नीच जानकर हाथ जोड़ने तथा झुकने मे अपना कल्याण देखता है और अपने तथा दूसरो के स्वास्थ्य के लिये दायित्व स्वीकार नही करता। उसमें आत्म-विश्वास न होने से वह दूसरों पर निर्भर करता है। और अपने को एक अलग थलग सत्ता मान कर अकेलापन अनुभव करता है। तथा वह अपने को नि:सहाय जान कर कृपा का भिखारी रहता है। वह अपने को साध्य जानने के स्थान मे एक साधन ही निश्चय करता हुआ नहीं जानता कि जीना अपना उद्देश्य आप है, वह आप ही पथ, पथिक तथा गन्तव्य स्थान है।

ज्ञानी मानव अपने आप को पहचानता और अपनी तथा अविद्या को जानता है। वह अपनी इन्द्रिय तथा अन्त.करण द्वारा जगत को केवल अनुभव ही नहीं करता,, प्रत्युत् इसका अर्थ, उद्देश्य और इसका मर्म भी जानता है। वह अपने लिये ही नही प्रत्युत् सर्व हित के निमित्त जीता है।.

वह जगत को अपने भीतर और अपने से देखता हुआ वर्तमान मे भद्रतर भविष्य-निर्माण के लिये जीता है। वह अतीत का अनुकारी तथा पुजारी नही होता। वह स्वय अन्तिम प्रमाण होता है और किसी भी व्यक्ति या ग्रन्थ को अन्तिम प्रमाण नही मानता। वह स्वावलम्बी होता हुआ अपने से ऊपर या परे कोई सत्ता मान कर उसका न तो सहारा लेता है और न उसकी ओर अपील करता है। वह आत्मविश्वासी तथा अभय होता है। न किसी से डरता है और न किसी को डराना

है। वह दु ख मे भी आनन्द और मृत्यु मे भी अमृत पाता है। वह धन, मान, ख्याति तथा भोग विलास के लिये नही, प्रत्युत् मानव्य मूल्यो के अनुसरण तथा सर्जन के लिये जीता है। वह शक्ति तथा शासन के स्थान में यथाक्रम प्रेम तथा सेवा करना चाहता है। वह अपने को प्रकृति का प्रभु जान कर उसकी प्रकाण्ड शक्तियो को सर्वोदय के लिये उपयोग मे लाने का इच्छुक होता है। और उन्हे अपने पूज्य देव नही मानता। वह नि.सन्देह जानता है कि उसका अपना तथा मानव जाति का भविष्य उसके अपने हाथ मे है। अपने स्वास्थ्य तथा स्थिति के लिये अपने को दायी मानता है न कि तथाकथित अतिप्राकृतिक सत्ताओ, शक्तियो या ग्रह आदि को। वह विराट् जगत को अपना ही वृहत्तर पिण्ड जान कर इसमे अपनी ही विभूति, श्री, उर्जित, शक्ति, शोभा, ऐश्वर्य तथा महिमा देख पाता है। वह अपना लक्ष्य, अपना स्वर्ग-नरक, अपनी गति तथा उद्देश्य आप ही होता हुआ कभी अकेलापन अनुभव नही करता। पर वह जीवन से नही, प्रत्युत् जीवन की विविध तथा असीम शक्यताओ के उन्मीलन को ही जीवनमुक्ति जानता है, केवल अलिप्त, असग, उदासीन साक्षी होकर रहने को नही।

वह अपनी सत्ता मे सर्वाधिष्ठान, अपने स्वरूप मे ज्योतिषा ज्योति तथा अपने आनन्द मे जीवन का सर्वोत्कृष्ट तथा सदा बहार फूल होता है। वह केवल अन्तर्मुख या बाहर मुखी नही होता। वह भोग-मोक्ष निराकाक्षी होता हुआ न तो आत्म केन्द्र मे सोना चाहता है और न केवल परिधि की ओर दौड़ा करता है। वह जीवन और इसकी जिम्मेदारियो से भागने या

मस्त रहने का अभिलाषी न होता हुआ समकालीन स्वस्थ तथा व्यवहार मे व्यस्त देखा जाता है और अनेक मे एक तथा एक मे अनेक, भेद मे अभेद तथा अभेद मे भेद देख पाता है। वह भली प्रकार जानता है, कि अंश मे समग्र, व्यष्टि मे समष्टि, ससीम मे असीम तथा अल्प में भूमा विद्यमान है। वह कर्म मे ही अकर्म, वन्ध मे ही मोक्ष, व्यवहार में ही समाधि तथा गति मे ही स्थिति का उदाहरण पेश करता है और उसके लिये गृह, वन, निर्जनता, समाज समान होते है। वह एकपक्षीय, पक्षपाती तथा असन्तुलित नही होता। वह समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब, सभी देशों को अपना देश, सब लोगों को अपने लोग और सर्व-कल्याण को अपना कल्याण जानता है। वह एकत्व-दर्शी होने से किसी से मोह, ग्लानि, राग या द्वेष, किसी अवस्था मे शोक या हर्ष न करता हुआ अन्तर बाहर अपने को देखता हुआ खूब जानता है कि जगत अपने ही जीवन का विकास, अपनी ही शक्ति का खेल, अपने ही आनन्द का गीत और अपनी ही अनन्त विभूति का प्रदर्शन है। वह विश्व के रूप मे अपने को ही देखता, सुनता, चखता, छूता, सूंघता और अपना ही अध्ययन करता है। वह जीता है तो सबके लिये, कमाता है तो दान के निमित्त, संग्राम करता है तो सुधार की खातिर। वह अपने व्यक्तित्व का निरादार, सृष्टि तथा जीवन के नियमों की अवहेलना कभी नहीं करता। संसार मे रहकर भी वह संसार का नही होता और नरक मे भी स्वर्ग का सुख और जेल में ही आजादी का अनुभव करता है। वह जगत में अपने सिवा कुछ पाता ही नहीं, न अपने से बाहर कुछ देखता है क्योंकि

वह अपने शरीर को जगत मे और जगत को स्वसत्ता मे ही अनुभव करता हुआ आकाश में अपने को सुनता, वायु मे अपने को छूता, अग्नि मे अपने को देखता, जल मे अपने को चखता, पृथ्वी मे अपने को सूँघता, स्थावर मे आप ही सोता, जगम मे आप ही चलता और मानव रूप मे आप ही जागता है।

आत्मज्ञानी सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्र के समान शीतल, पर्वत के समान अचल, सागर के समान गम्भीर, आकाश के समान अलिप्त तथा समरस, पृथ्वी के समान क्षमी और वायु के समान सर्वभूत का प्राणाधार होता है। और अपनी अपार महिमा को आप ही जानता हुआ नि सकोच कह सकता है कि 'मै ब्रह्म हूँ और यह सब ब्रह्म ही है।'

· १४ ·

अपरोक्षानुभूति का राज-पथ

अपरोक्षानुभूति के बिना सभी प्रकार का ज्ञान अज्ञान है, चाहे वह प्रत्यक्ष तथा पूर्णत व्यवहार्य ही क्यो न हो। अपरोक्ष-ज्ञान ही भ्रम तथा भय का उन्मूलन कर सकता है। और वह ज्ञान केवल जानना ही नही प्रत्युत जानने का जानना तथा जाग्रत का जागना है और इसमे ही द्रष्टा तथा दृश्य, चेतन तथा जड, पुरुष तथा प्रकृति, व्याप्ति तथा समाप्ति, गति तथा मृत्यु, शक्ति तथा शान्ति, परिवर्तन तथा समरसता, एक तथा

अनेक का समन्वय होता है। अपरोक्ष ज्ञान-विहीन पुरुष देवताओं अथवा देव का पशु, मानवता मे अपक्व, जीवन मे असफल तथा अपनी स्थिति मे कृपण तथा नगण्य होता है।

किन्तु अपरोक्ष ज्ञान अत्यन्त दुष्प्राप्य है। जिज्ञासाहीन, तामस राजस पुरुष के लिये; सर्वाधिक सुलभ्य है सात्विक जिज्ञासु के लिये। क्योंकि यह प्राप्त की प्राप्ति है, यह तो अपने आप में टिकना है। इसमे न तो अन्वेषण दरकार है और न देश काल में दौड-धूप की आवश्यकता है। इसकी प्राप्ति केवल जागने मे है, शरीर या सकल्प द्वारा इधर उधर ढूढ़ने मे नही। यह तो जाने हुए का जानना और विस्मृत का स्मरण है।

अपरोक्ष ज्ञान आत्मसंयम तथा योगाभ्यास द्वारा हाथ नही आता। आत्मा कभी वृत्ति ज्ञान का विषय तथा ध्येय नही हो सकता। क्योंकि आत्मा साक्षी तथा प्रकाशक है, इन्द्रिय या बुद्धि का विषय नही और खोज से पहले ही प्राप्त है और इस लोक में केवल मनुष्य ही अपरोक्ष ज्ञान पाने का अधिकारी है। जैसे स्वास्थ्य को ढूंढ़ नही सकते; अपने भीतर की रुकावटो को दूर करने पर स्वास्थ्य स्वयं प्राप्त हो जाता है, इधर उधर की दौड़धूप उसके निकट ले जा नही सकती। इसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के लाभार्थ अन्दर की रुकावटो को दूर करना होगा। यह ससार इन तीन गुणों का खेल है—तम, रज तथा सत्त्व।

तमस् का आवरण भुलाने, सुलाने तथा छिपाने वाली शक्ति है। इसी शक्ति के प्रभाव से ससार में इतना मोह या अज्ञान है। यह शक्ति जड़ता तथा अचेतना की ओर ले जाती

है। निद्रा तथा स्वप्न मे इस शक्ति का पूर्ण प्रभाव देखने मे आता है।

रजस् की विक्षेप शक्ति प्राणियों को भ्रमाती, भटकाती, आपस मे टकराती तथा दु.खी करती है। यह वस्तु को छिपाने या भुलाने के स्थान मे कुछ और का और दिखाती है। इसी से काम क्रोध की उत्पत्ति होती है। जो अपने भीतर है, वह बाहर प्रतीत होता है और अपना अज्ञान ही ज्ञान भासता है और गुणहीनता में भी मानव अपने को गुणी जानता है।

प्रश्न हो सकता है कि एक, अद्वैत, चिन्मय, निर्विकार पूर्ण से आवरण तथा विक्षेप कहाँ से और क्यो प्रकट हो गए? इसका उत्तर यही है कि आत्मप्रकाश के लिए, क्योकि अज्ञान के बिना ज्ञान, तथा विक्षेप के बिना शान्ति का प्रकाश हो ही नही सकता। रोग, बाधा, दु.ख, वियोग, जड के बिना यथाक्रम आरोग्य, शक्ति, सुख, सयोग, चेतन का अनुभव हो ही नही सकता।

जिस प्रकार सूर्य के तेज से ही बदल उठ कर सूर्य को और सागर से ही तरग, फेन, वुदबुदे, पृथ्वी से घास, चेहरे ही से वाल जन्म लेकर यथाक्रम सागर, पृथ्वी, चेहरे को छिपा लिया करते हैं इसी प्रकार तम तथा रज आत्मा से ही उद्भूत होकर अपना आप भुला कर हमे ससार में भटकाया करते है।

तीसरा गुण सत्व है जो दैवी सम्पत्ति के लिये आकांक्षा उत्पन्न करता है।

अपरोक्ष ज्ञान की ओर पहला पग है तमस् को रजस् से और रजस् को सत्व से अभिभूत करना। तम तथा रज आजी-

सूत्र रहते ही है किन्तु इनकी प्रबलता न होनी चाहिए। मानव जीवन की सफलता सत्व की प्रबलता मे है और अपरोक्षानुभूति के लिए तो सत्वरत रह कर तीनो गुणो से भी उठ कर आत्मवान होना होगा। इन गुणो में भोजन, विचार तथा सगति द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है।

और जब सत्व की प्रधानता स्थापित हो जाय तब मनुष्य के सम्मुख श्रवण, मनन, निदिध्यासन का राजपथ खुला है। वह आत्मावलम्बी होके उस पर चलने के लिए कटिबद्ध हो। यही पुरुषार्थ है।

सत्वगुण की प्रधानता होने पर जडता, आलस्य, निद्रा, विक्षेप, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार दूर होकर आत्मजिज्ञासा जाग उठती है और अपने और जगत के सम्बन्ध मे क्या ? क्यों, कहाँ से ? किधर को ? के प्रश्न उठने लगते है।

जिज्ञासु का पहला काम है श्रवण अर्थात् ज्ञात ज्ञेय के उपदेश को श्रद्धा तथा समाधान (एकाग्रता) पूर्वक सुन कर हृदयस्थ करना।

भोजन को जब तक पचाया न जाय वह हितकर होने के स्थान में अहितकर होता है। जिज्ञासु को सुने या पढ़े सदुपदेश पर स्वय विचार करना होगा कि वह सच है या झूठ। अन्ध-श्रद्धा को छोड़ कर हर एक बात को आत्मज्योति के उजाले में परखना होगा अन्यथा ज्ञान चक्षु नही खुलेगा। संशय को दबाने के स्थान मे इसका निवारण करना होगा। आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिये अपने लिए आप ही दीपक होना आवश्यक है। मनन श्रवण से सौ गुना होना चाहिए।

और जब श्रवण, मनन द्वारा निःसन्देह ज्ञान हो जाए कि "मै सच्चिदानन्द स्वरूप, एक, अद्वैत, अनन्त, पूर्ण, निर्विकार नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण आत्मा हूँ और जगत मेरा ही अपना चमत्कार है" तब जिज्ञासु इसी परम सत्य की ओर अपना सारा ध्यान लगा दे। *या मति सा गतिर्भवेत* एक अटल नियम है। और अपने तैलधारावत अखण्ड तथा सजातीय वृत्ति-प्रवाह को आत्मतत्व की ओर लगा देना ही **निदिध्यासन** है जिसके द्वारा हम जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते है। निदिध्यासन मनन से लाख गुना अधिक होना चाहिए।

यही आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात्कार) का राजपथ है। और सभी तथाकथित मार्ग या साधन अपरोक्षानुभूति से दूर रखते है। अपरोक्षानुभूति आत्मा के दर्शन या प्राप्ति के स्थान मे स्वय ब्रह्म होना है क्योकि जीव स्वरूपत ब्रह्म ही है।

"ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म" ही हो जाता है। यह जान लेना कि "ब्रह्म है" परोक्ष ज्ञान है और यह अनुभव कि "मै ब्रह्म हूँ" अपरोक्षानुभूति है जो श्रवण, मनन, निदिध्यासान द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

उपसंहार

धर्म तत्त्व एक व्यापक तत्त्व है जो प्रत्येक सत्ता के स्वभाव मे ही अन्तर्निविष्ट होता है और अपने अपने स्वभाव के अनुसार धर्म भी विभिन्न रूप धारण कर लेता है ।

मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी इतर प्राणी को स्वधर्म का ज्ञान नही होता । वे अज्ञात भाव से ही स्वधर्म का पालन करते है । अत उन्हे धर्म शिक्षा दरकार नही होती ।

मानव अपनें आपको तथा अपने धर्म को जान सकता है और जिस हेतु से वह स्वतन्त्र बुद्धि तथा इच्छा रखता है उसे धर्म शिक्षा दरकार होती है और वह स्वधर्म पालन के लिये दायी भी है ।

मनुष्य का अन्तरतम स्वभाव पूर्ण, अनन्त, नित्य, चिदानन्द की जिज्ञासा है । इस जिज्ञासा के बिना मनुष्य नहीं होता और न ही जीवन मे शाश्वत शान्ति लाभ कर सकता है ।

मानव जीवन पूर्णता की ओर अपना रुख रखता है । क्यों ? इस लिये कि मनुष्य अपने स्वरूप मे पूर्ण है । अन्यथा उसे पूर्ण का ख्याल ही न आ सकता । आत्म (ब्रह्म) पूर्ण और इसलिये अद्वैत है । पूर्ण मद । (वह पूर्ण है) ।

अपना आप पूर्ण है तो यह जगत भी पूर्ण है (पूर्ण मिदं) यह पूर्ण (आत्मा) का प्रकाश होने से यह सभी ब्रह्म ही तो है । हम कुछ और नही, यह जगत कुछ और नही । जीव तथा

जगत मे प्रभेद है, विच्छेद कदापि नही। यह जगत ब्रह्म का ही रूप, विभूति, चमत्कार, सौन्दर्य, तेज तथा ऐश्वर्य है। अन्तर भी आप है और बाहर भी आप है। मै कौन हू ? यह क्या ? का समाधान तो हो गया। तीसरा प्रश्न है क्यो ? इसका उत्तर है, **'पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते'** पूर्ण (आत्मा, ब्रह्म) से पूर्ण (जगत) की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्म का स्वभाव ही प्रकटन है। और कोई कारण नही। यह जगत ब्रह्म की महिमा का देश-काल मे प्रदर्शन है। सर्व द्रष्टा ही अनन्त रूप दृश्या हो रहा है। सृष्टि ब्रह्मानन्द के अजस्र सगीत के सिवा कुछ नही है।

जब यह जाना गया कि वह पूर्ण है, यह पूर्ण है और वह (पूर्ण) से ही इस जगत की उत्पत्ति हो रही है तब केवल एक प्रश्न रह जाता है कि मानव जीवन का अर्थ तथा प्रयोजन क्या है तो इसका उत्तर हमे यह मिला कि **पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते**। पूर्ण (ब्रह्म) से पूर्ण (मानवात्मा) पूर्णता को लेकर भी शेष पूर्ण ही रह जाता है। अर्थात् जब तत्त्वज्ञानी मनुष्य कहता है *'अह ब्रह्मास्मि'* (मै ब्रह्म हू) तो उसकी पूर्णता से ब्रह्म की पूर्णता मे कोई फर्क नही पड जाता जैसे कि बीज की परिपक्वता होने पर भी वृक्ष ज्यो का त्यो ही रहता है। अध्यात्म तत्त्व बाटने या देने से घटने के स्थान मे उल्टा वढा करते है यथा ज्ञान, प्रेम, आनन्द आदि।

मानव का कर्तव्य है पूर्ण (आत्मा, ब्रह्म) से पूर्णता को लेते हुए जगत मे इसका प्रकाश या प्रसार करना, जीवन का प्रयोजन पूर्णता-लाभ और तदनन्तर पूर्णता का प्रकाश है। आत्मा (ब्रह्म) की ओर लौट कर उसमे समाने के स्थान मे

[illegible] को पूर्णता (पराप्रकृति) को अपराप्रकृति द्वारा अभिव्यक्त करता है और यही जीवन मुक्ति है। हम ने यहाँ जीवन (जन्म-मरण) से जान छुडाने के लिये जन्म नही लिया, प्रत्युत् मूल्य जगत से मानव या आध्यात्मिक मूल्यो को लेकर इस जगत को मूल्य प्रदान करने के लिये। और यह तो यर्थाथत. मानव या पूर्ण धर्म है।